Chapter-5

पंचम् अध्याय

धार्मिक व्यंग्य

व्यक्ति और समाज के संस्कार धर्म से उद्‌बुद्ध होकर धर्म के अनुकूल ही पल्लवित होते हैं। प्राचीन समय से ही देश की सामाजिक एवम् सांस्कृतिक जीवन-धारा में धर्म की उत्कृष्ट भूमिका रही है। धर्म, प्राचीन काल में मानवीय चेतना की निरन्तर उर्ध्वोन्मुखी गतिशीलता का अखण्ड एवम् असीम प्रेरणा-स्त्रोत था, किन्तु कालान्तर में यह मानवता की आन्तरिक शुद्धता एवम् आचरण की पवित्रता का द्योतक न रहकर पाखण्ड एवम् कर्मकाण्ड-प्रधान वाह्य-क्रियाओं से संचालित मात्र रह गया। जीवन में जटिलताओं के बढ़ने के साथ-ही-साथ धार्मिक एवम् सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के प्रति संकुचित और निक्रिष्टतम् मानसिकता का विकास हुआ और धार्मिक रीति-रिवाजों का कट्टरता से पालन किया जाने लगा। परिणामत: वाह्याडम्बरों की शुष्कता ने धर्म की रसात्मक स्थली को नीरस बना दिया। विदेशी आक्रमणों के कारण धर्म का आध्यात्मिक पक्ष क्षीण होने लगा। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का दुष्प्रभाव भारतीय धर्म एवम् संस्कृति पर प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोंनो ही रूपों में पड़ा। जब धर्म में कोई नयी विधि या व्यवस्था जन्म लेती है तो कर्मकाण्ड उसकी आन्तरिक आवश्यकता न होकर बाह्य आवश्यकता होती है, परन्तु समय के साथ-साथ धर्म में कर्मकाण्ड एवम् वाह्याडम्बर की ही प्रधानता हो गई और धर्म का आन्तरिक पक्ष गौण हो गया। धार्मिक कट्टरता एवम् रूढ़िवादिता के कारण समाज में जड़ता एवम् स्थिरता आ गई। फलस्वरूप धर्म में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई। पाश्चात्य आन्दोलनों से भारत की सांस्कृतिक एवम् धार्मिक भावना को गहरा धक्का लगा है। पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अंधानुराग भारतीय सांस्कृतिक एवम् धार्मिक व्यवस्था को विद्रूप और विषम बना रहा है।

धर्म का विस्तृत क्षेत्र व्यंग्यांकुरण हेतु अत्यन्त ही उर्वर एवम् सम्पन्न रहा है। व्यंग्य के तेजाबी बाणों की अचूक और आक्रामक शक्ति धार्मिक आडम्बरों एवम् अन्धविश्वासों की धज्जियाँ उड़ा देती है। धर्म के नाम पर किए जाने वाले पाखण्डों की बखिया उधेड़ देने में समर्थ व्यंग्य धर्म-क्षेत्र में व्याप्त विकृतियों-कर्मकाण्डों, अनाचारों तथा अन्धविश्वासों आदि का

प्रचार करने वाले तत्वों को कड़ी चेतावनी देता है। व्यंग्य धर्म की परम्परागत मान्यताओं एवम् प्रवृत्तियों को चुनौती देता है। धर्म की आड़ में घोर अनैतिक आचरण व्यंग्य के मुख्य लक्ष्य बने हैं।

स्वतंत्रता पश्चात भी धर्म की यथा स्थिति बनी रही। नगर हो या गाँव, सर्वत्र अशिक्षा और अनैतिकता का साम्राज्य था। जनता, तीर्थ-ब्रत, मूर्ति-पूजा, भाग्यवाद, भूत-प्रेत, बलि-पूजा इत्यादि अन्धविश्वासों से संत्रस्त थी। मन्दिर सामूहिक उपासनास्थल से अपदस्थ होकर पापाचार और व्यभिचार के मठ बन गए थे। धर्म की आड़ में मन्दिर, वर्ग-विशेष की जीविकोपार्जन के साधन बन गए। मुफ्त का माल उडाने वाले पुजारियों एवम् मठाधीसों का घोर चारित्रिक हनन भी हुआ। वाह्याडम्बर एवम् कर्मकाण्ड को धर्म मान लिया गया। जन-साधारण को कर्मकाण्ड के जाल में फँसाकर ठगने वाले धर्म-व्यवस्थापक वेद-पुराणों की आड़ में मनमानी व्यवस्था करने लगे। अशिक्षित वर्ग मूर्ति-पूजा पर विश्वास करता था। किन्तु शिक्षित-वर्ग मूर्ति-पूजा की व्यर्थता को समझने लगा था। हिन्दू धर्म में मूर्ति-पूजा धार्मिक भावना के विकास के साधन रूप में तथा ईश्वर को जानने के माध्यम-रूप में प्रचलित हुई थी। 'मूर्ति-पूजा' प्रतीक के माध्यम से निर्गुण, निराकार ईश्वरत्व की उपासना है। कालान्तर में जनता मूर्ति की प्रतीकात्मकता को भूल गई और मूर्ति में ही ईश्वर का वास समझ कर उसे पूजने लगी। अज्ञानी, पाखण्डी महन्थों व पुजारियों नें मूर्तिपूजा पर ईश्वरत्व को आरोपित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मूर्तिपूजा से सम्बन्धित कर्मकाण्ड अधिक मुखरित हुआ। मन्दिरों में पूजा का उपयोग ईश्वर में विश्वास को बढ़ाने, मन तथा आचरण की पवित्रता को बढ़ाने के स्थान पर पुजारियों द्वारा धन कमाने के लिए होने लगा। यहीं नहीं, अपने स्वार्थसिद्धि हेतु जन-साधारण की धार्मिक-साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काकर दंगे-फसाद करा देना भी उचित समझा जाने लगा।

आंचलिक उपन्यासों में उपर्युक्त धार्मिक विकृतियों एवम् विद्रूपताओं तथा उनके व्यवस्थापकों पर जबर्दस्त छींटाकसी की गई है। लेखकों ने धर्म एवं ईश्वर के विकृत रूप, रूढ़ कर्मकाण्डों, तीर्थव्रत, बलि-पूजा, धर्म के पाखण्ड, महन्त-पुरोहित आदि पर करारा व्यंग्य किया है। उन्होंने धर्म

के व्यावसायिक रूप, जनता के अन्धविश्वास एवम् ढोंगी साधुओं पर से आवरण खींचकर नग्न कर दिया है, और जनसाधारण को यथार्थता से साक्षात्कार कराने का भरपूर प्रयत्न व्यंग्य के माध्यम से किया है।

देश के अधिकांश भागों में सत्यनारायण भगवान की पूजा अभी भी पूरी श्रद्धा के साथ की जाती है। भगवान को खुश करने की यह अच्छी विधि मानी जाती है। लोग श्रद्धा एवम् विश्वास के साथ इस कथा -पूजा में उपस्थित होते हैं और पूरी तन्मयता से सत्यनारायण भगवान की कथा सुनते हैं। नागार्जुन के 'बलचनमा' में करैत साँप के डस लेने से छकौड़ी की गाय गुजर जाती है। छकौड़ी को बहुत प्रायश्चित् होता है। अपनी पश्चाताप में वह सत्यनारायण की पूजा करता है-" गाय बँधी थी। सावन का महीना, रात का वक्त। करैत आंकर बेचारी को डस गया। जहर रग-रग में फैलने लगा, गाय रँभा-रँभा उठती थी। छकौड़ी ताड़ी पीकर उस रोज बेहोश पड़ा था। औरत बाल-बच्चे लेकर नइहर गई हुई थी, माँ के सराध में... सुबह होते-होते अभागी जीव के प्रान डूब गये। छकौड़ी को गोबध का परासचित लगा वही पण्डित बबुअन झा ने पचास रूपये लिए तब जाकर पतिया लिखा था। सिमरिया घाट जाना पड़ा, भय चोटी के बाल काटने पड़े, बालू-गोबर निगलना पड़ा, दान-दच्छिना करनी पड़ी। घर लौटकर सतनारायन भगवान की कथा सुनी। बिरादरी को और समाज को तब जाकर छकौड़ी का छुआ-छुआ पान-परसाद गरहाज हुआ।"[१]

अकर्मण्यतावश मनुष्य कभी-कभी स्वयं को भगवान के भरोसे छोड़ देता है और प्रयत्न भी नहीं करता, खान-पान सब भाग्य भरोसे। बलचनमा में लेखक ने मनुष्य की इस मानसिकता पर भी व्यंग्य किया है- "मुझे तैस में पाकर अम्मा चुप रह गई थी। कुछ देर बाद गौने की बात उठी।-'खर्चा कहाँ से आवेगा?'

माँ बोली-'भगवान कोई न कोई ब्योंत जरूर लगाएँगे।' मै देखता था, जब कोई ऐसी बात आ पड़ती थी जिसका जबाब हमें नहीं सूझता तो चट से भगवान का नाम वह ले लेती थी। यह उसकी पुरानी आदत रही। मगर

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-१४४

मैंने कहा- 'भगवान कहाँ से ब्योंत करेंगे? चोरी हम करेंगे नहीं, डाका हम डालेंगे नहीं, घर में भूँजी भाँग नहीं। आगे-पीछे कोई खोज-खबर लेने वाला नहीं है, तो फिर भगवान बाकी कौन उपाय करेंगे।''[1]

नागार्जुन ने 'बलचनमा' के माध्यम से शाही फकीरों की फकीरी पर व्यंग्य किया है- ''सोचते-सोचते मन को थाह मिली। राधा बाबू मुझे बहुत मानने लगे थे। थे तो वह फकीर मगर दलिद्दर फक़ीर नहीं। शाही फकीर थें। बड़े-बड़े महन्थ, महात्मा, भारी जमात वाले साधु सन्त, दूध-जैसी धुली हुई मलमल से समूचे देह को ढँके हुए बैरागी महाराज, यह सभी-शाही फकीर होते हैं। कमर में अँगोछे की तरह चार हाथ का कपड़ा लपेटने वाले यह जो एक-आध त्यागी नेता दिखाई पड़ते है वह भी शाही फकीर है। शाही फकीरों की लीला अपरम्पार होती है। यह औढर तुम पर अगर ढर जायँ तो कसम तुम्हारी, तुम्हारे एकैस पुरखा का उद्धार कर देंगे।''[2]

'दुखमोचन' के सुखदेव मिश्र को रामसागर की माँ के शव को कन्धा देने से अधिक 'शालिग्राम' के पूजा की चिन्ता लगी रहती है। नागार्जुन ने इस मनोवृत्ति पर चोट करना चाहा है- ''मै रामसागर की माँ के शव को कन्धे जरूर लगाता, किन्तु फिर तीन दिन हमारें शालिग्राम बिना पूजे ही पड़े रहेंगे, शंख में पानी भरकर कौन उन्हें नहलायेगा और कौन करेगा सहस्त्रशीर्षा मन्त्र का पाठ? समझते हो न मधुकान्त?'[3] किन्तु 'नयी पौध' में नागार्जुन ने 'ललित किशोर' की ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा एवम् लगन की चर्चा भी की है- ''....वह निष्काम कर्म के कायल थे। अपनी कृतियों के पुलिन्दों की गट्ठर को देख-देखकर आप ही पुलकित होते और बुद्बुदा उठते:

कृष्णाय वासुदेवाय
हरये परमात्मने।.....

अन्तिम कड़ी पर पहुँचते-पहुँचते भावावेग के मारे उनका मष्तिष्क एक अजीब तनाव का अनुभव करता और साँस घुटने सी लग जाती;

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-९६
२. वही, पृष्ठ-९७
३. दुखमोचन, पृष्ठ-१०

मानसिक आकुलता से घिग्घी बँध जाती तो स्वर के क्रम अर्धरोदन एवं उच्छ्वास से संघटित होने लगते-प्रभो! प्रभो! त्राहिमाम् मधुसूदन! मो सम कौन कुटिल खल कामी।..... और फिर-मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई..... भक्ति और भावना की विह्वलता के आगे बूढ़े गले का वह फटा-फूटा खुरदरापन बिल्कुल ही दब जाता था। आवेग की भाप निकल जाने पर 'ललित किशोर' जी के मुँह से निकलता:

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन।.....

भक्ति की इस सगुण धारा ने धीरज की नैया दी थी, सन्तोष की पतवार दी थी।''[1]

मन्दिर में मूर्तिपूजा तथा पुजारियों के धन कमाने की लालची प्रवृत्ति पर कई उपन्यासकारों ने व्यंग्य प्रहार किया है। उदयशंकर भट्ट ने 'लोक-परलोक' में सारी तस्वीर सामने खींच कर रख दी है और उस पर व्यंग्य के तेवर चढ़े हुए प्रतीत होते है। ''उस दिन सवेरे से ही टीले पर इतनी रौनक और चहल-पहल थी कि झुंड के झुंड स्त्री-पुरूष, बालक-बूढ़े पास ही गंगा-स्नान करके 'जय देवी', 'जय माता की', 'जय कल्याणी की', 'जय-जय' कहते ऊपर चढ़ रहे थे..... उमंगों में भरे मन में कामनाएँ लिए कोई कतार में, कोई फैले-निखरे जा रहे थे। किसी के सिर मैली टोपी, कोई नंगे सिर, कोई पगड़ी बाँधे, खखारते, हिंसते, साँसो में मनौती भरे हुए थे। ऊपर टीले पर कल्याणी देवी के मन्दिर के सामने तख्त बिछाए सिरकियों या खुले चबूतरों पर पूजा की सामग्री बेचने वालों की दुकाने लगी थी।..... पूजा की साम्रगी में बताशे, पीले नारियल, लाल कपड़े के चीथड़े, कौड़ी, धूप-दीप और गहनों में टीन के टुकड़ों के हार थे। पाँच आने से लेकर सवा रूपये तक का सामान। उसकी मंदिर और बाहर के छोटे मन्दिरों में घंटे बज रहे थे। मैदान में दुकानदारों का कोलाहल एक-एक टुकड़े के लिए लड़ उठने वाले कुत्तों, कौओं और चीलों के तीव्र, मध्य और विषादी स्वर; भिश्तियों, भंगियों की गला-फाड़ आवाजें, छोटी-बड़ी लड़कियों का यात्रियों का पल्ला पकड़कर, रास्ता

---

१. नयी ग़ौध, पृष्ठ-१०३

रोककर पैसा माँगने की चिंघाड़ और यात्रियों भी झिड़कियाँ, ये सब एक अजीब कोलाहल पैदा कर रहीं थी। मंदिरों के भीतर, बाहर, आँगन में पुजारियों, माँगने वालों, चढ़ावा चढ़ाने वालों और मनौती माँगने वाले यात्रियों में कई तरह के वाग-युद्ध चल रहे थे। कहीं नारियल फोड़े जा रहे थे, कहीं पंडे देवी के नाम पर दक्षिणा के लिए जूझ रहे थे। यात्रियों के झुंड़-के-झुंड़ आते, श्रद्धा के अनुसार पूजा करते, फल-बताशे चढ़ाते, घंटे बजाते, साष्टांग दण्डवत् करते, हाथ जोड़ते, सिर जमीन से छुआकर मनौती माँगते, माथा और नाक रगड़ते, प्रसाद बाँटते और बाहर निकल आते। फिर एक-एक पैसे के लिए मड़चिरों की तरह चारो ओर से घेरने वाले भिश्तियों, भंगियों तथा माँगने वालों से पीछा छुड़ाकर यात्री लोग पेड़ के नीचे या कहीं कुएँ की मन पर, कहीं कच्चे चबूतरों पर अपनी पोटलियाँ खोलकर जीमते और चल देते।....

बड़े मन्दिर के जंगले के दोनों कोनों में दो पुजारी बैठे यात्रियों को चढ़ावे का प्रसाद दे रहे थे। भीतर एक आदमी लड्डुओं, बताशों, पैसों, रुपयों के ढेर अलग कर रहा था। दरवाजे के पास दो-तीन आदमी खड़े चढ़ावे का हिसाब लगाते यह देख रहे थे कि चढ़ावे का माल इधर-उधर तो नहीं किया जा रहा है।..."[1] मन्दिर के पुजारियों का उद्देश्य मुख्यतः धन इकट्ठा करना होता है। चढ़ावे के रूपयों तथा अन्य सामग्रियों पर पंडों के अतिरिक्त अन्य भूखों की भी दृष्टि लगी रहती है, यहीं नहीं, पूजा के प्रसाद को पाने के लिए कुत्ते और कौवें भी लालायित रहते हैं, यदि कुछ न मिला तो चाट कर ही अपने को धन्य समझ लेते हैं। "सबने और दिनों से अधिक मात्रा में भाँग पी। ब्राह्मण भोजन कराने वाले यात्रियों को भी आग्रह करके पिलाई गई। कुछ लोग लोटा लेकर निबटने चले गए। और बाकी बीड़ी का धुआँ उड़ाने लगे। चढ़ावा गिना जाने लगा। नारियल, बताशे, रूपये, पैसे, कौड़िया तक बँट गई। लोगों ने अपना-अपना हिस्सा लिया और मन्दिर की आलमारियों में बन्द कर दिया। जीमने के लिए जितने लोगों को बुलाया गया था, उससे दूने लोग इकट्ठे हो गए। कुछ गिद्धों की तरह आस लगाए जम गए और कुछ स्त्रियाँ और बच्चे लोटा और गिलास लेकर आ जमे। एक तरफ कुत्तों का दल ताक लगाए

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-१

काना-फूसी कर रहा था। पेड़ों और मन्दिर की मुडेरों पर कतार में बैठे कौए स्तोत्र बोल रहे थे।''[1]

उपन्यासकार ने मंदिर के चढ़ावे को लेकर हिस्सेदार ठाकुरों एवं ब्राह्मण की मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया है-'' ठाकुर ठसक के मारे मरे जाते हैं और चढ़ावे के लिए ऐसे टूटते हैं जैसे गिद्ध माँस के टुकड़ों पर। भला उन्हें क्या हक है कि ब्राह्मणों का चढ़ावा ले! दान खाने के कारण ही तो आज इनकी यह दशा हुई है। दान का पैसा लेने का अधिकार भगवान ने केवल ब्राह्मणों को दिया है क्योंकि ये भगवान् के मुख से बने है।''[2] मन्दिर के चढ़ावे को ही लेकर पंडित ललिता प्रसाद मिसिर और ठाकुर विक्रम सिंह के बीच गर्मागरम बहस छिड़ जाता है- ''ललिता प्रसाद को देखकर ठाकुर बोला-ललिता मिसिर, कहे देता हूँ। मै मन्दिर को खण्डहर कर दूँगा, साले, तुम लोग रोज यात्रियों का माल चरते हो और हमकों कुछ नहीं मिलता। हमीं बहन..... मालिक इस देवी के और हम ही खीर-मालपुओं को तरसते रहें, और तुम साले, माल उड़ाओ!'

'तो ठाकुर, जि तौ सदा सूँ चली आई है, छत्री तो रच्छक रहें है' ललिता प्रसाद ने नरमी से पुचकारते हुए ठाकुर को उत्तर दिया।

'ऐसे रच्छक किस काम के, सवेरे मैं बैठा टुकुर-टुकुर कर देखता रहा और तुम साले माल चरते रहें! तुममें से किसी ने इतना न किया कि सेठ से कह कर एक पत्तल इधर भी डलवा देते!'

'तो ठाकुर हैं के तुम कैसे खाते? जि तौ बामननु कौ काम है।'

'मै नहीं मानता, ठाकुर के भी वैसा ही मुँह है जैसा बामनों के, उनको क्या कम स्वाद लगता है और तुमको ज्यादा, सब गलत बात है।

'तो जा में का है! तुमऊ नाऊ-बारीन के पास बैठ जाऔ करौ, एक पत्तर मिल जाऔ करैगी।'

ठाकुर और भी भभक उठा। ललिता प्रसाद ने हाथ पकड़ कर शान्त करते हुए, जेब से एक बीड़ी निकाली और बोला-

'लेउ, बीड़ी पीऔ! जामें का रखौ है, आगे सूँ एक परोसा कौ इन्तजाम है जाइगौ',

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-३

२. वही, पृष्ठ-६९

ठाकुर बीड़ी पीता वहीं चबूतरे पर बैठ गया, एक कश खींच कर बोला-

'मैं कुछ नहीं मानता, न गँगा को हूँ न तुम्हारी देवी को।'

'तौ देवी कौ चढ़ायौ ले उगे?'

'मुफ्त में मिलता है, तो क्या छोड़ दूँगा?''[1]

ललिता प्रसाद ठाकुरों पर व्यंग्य करते हैं-'' जमानौ बड़ौ खराब है, हुसियारी सुँ न रहौ तो सब चबाइ जायँ। दिन भरि म्हैनत हम करें, राति कूँ मन्दिर में हम रहें, रखवाली हम करें, और लै जायँ जे ठकुट्टा।''[2]

पूजा-पाठ आदि सुअवसरों पर ब्राह्मणों को 'ब्राह्मण-भोज' के लिए आमन्त्रित किया जाता है। 'लोक-परलोक' में सेठ जी 'बारह' ब्राह्मणों को भोज के लिए बुलाए थे किन्तु बहुत ज्यादा ब्राह्मण आ गए और खाने में कोई भी एक-दूसरे से पीछे नहीं। सेठ जी की भी पत्नी इसी कारण चिन्तित है। पत्नी कहती है-'' ये तो बहुत आदमी आ गए, हमने तो बारह का प्रबन्ध किया था।'

'हाँ, क्या करें?'

फिर अब, और तो इतनी जल्दी नहीं बन सकता।'

'मै कुछ इन्तजाम करता हूँ।'....

'कैसे हैं ये लोग, इतना खाया!'.....

'क्या कहा जाय, मुफ्त का माल है, फिर ब्राह्मण।''[3]

किन्तु सभी ब्राह्मण ऐसे खब्बू नहीं होते। 'दुखमोचन' के सुखदेव मिश्र ऐसे पण्डित नहीं है। बड़े धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति है वे- ''तीन-चौथाई खाना खाकर सुखदेव ने पानी-भरा गिलास उठा लिया और ऊपर-ही-ऊपर मुँह में पानी डालने लगे। काशी के पढ़े पण्डित थे, गिलास या लोटे में मुँह लगाकर पानी नहीं पीते थे।....

'मिसरी की बुकनी मिलाकर गाय का दूध पीते थे, पाव डेढ-एक। रात को खाना खाते ही कटोरा-भर दूध पीना उनका दस्तूर था।'....''[4]

उपन्यासकारों का व्यंग्य सहज एवम् स्वाभाविक बन पड़ा है।बनावटीपन

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-११

२. वही, पृष्ठ-१३

३. वही, पृष्ठ-३

४. दुखमोचन, पृष्ठ-२३

का पुट नहीं दिखाई पड़ता। उनके व्यंग्य में नितान्त सच्चाई नजर आती है। धार्मिक विसंगतियों पर पग-पग पर किया गया उनका व्यंग्य सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। "भोजन के बाद कुछ वहीं लेट गए थे। शेष जो धीरे-धीरे खिसके, उनके पैर डगमगा रहे थे। मन्दिर के पट बन्द हो गए। देवी की मूर्ति के पास कुचले हुए फूलों, चीथड़ों और इधर-उधर फैली हुई कानी कौड़ियों के सिवा कुछ नहीं था। दालान में पुजारियों की नाकें बोल रही थी और बाहर पड़ी पत्तलों पर कुत्तों और भंगियों के संवाद चल रहे थे। केवल दूर यात्रियों के लौटते हुए जय-जय के स्वर सुनायी दे रहे थे।"[1] जजमान यात्रियों को प्रभावित कर दक्षिणा एवम् स्वादिष्ट भोजन आदि का सुख प्राप्त करने के लिए पंडे क्या-क्या हथकण्डे नहीं आजमाते; इसकी भी व्यंग्यपूर्ण चर्चा 'लोक-परलोक' में उदयशंकर भट्ट ने की है। "गाँव के लोग साधारण पढ़े-लिखे हैं और पंडों में कामचलाऊ संस्कृत के जानने वाले। यात्रियों के आने पर 'गंगा-लहरी', शिवमहिम्न्स्तोत्र, वेदपाठ और छुटपुट 'रामचरित-मानस' का पाठ कभी-कभी मन्दिरों में और गंगा के किनारे सुन पड़ता है। इस सम्पूर्ण ज्ञान का लक्ष्य एक ही है कि, यत्रियों को किस प्रकार प्रभावित किया जा सके और दक्षिणा से मुट्ठी गरम करने के साथ-साथ भोजन और भाँग की व्यवस्था हो। लड्डू, कचौरी, खीर, मालपुओं के लिए कौन-कौन से हथकण्डे काम में लाये जाएँ, जिससे गाँव के सारे वातावरण में घी की सुगन्ध से बने पकवानों के लिए लालायित जीभों और कुड़कुड़ाते पेटों को तृप्ति मिले।

इधर ठाकुर और दूसरी जाति के लोग भी इस मौके से चूकना नहीं जानते। वे किसी-न-किसी बहाने यात्रियों के विविध स्वादमय भोजन में अपना पैतृक अधिकार समझने में नहीं हिचकते।"[2] किन्तु 'रांगेय राघव' के 'काका' इतने घटिया और नितान्त स्वार्थी ब्राह्मण नहीं है; हालांकि 'काका' खाने-पीने के मामलों में किसी से कम नहीं है।एक बूढ़े जिजमान की लड़की उन्हें खाना परोसती है। काका परोसा हुआ भोजन और सारे लड्डू चट कर जाते है। वह कमरे से बाहर बृद्ध पिताजी के पास जाती

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-४

२. वही, पृष्ठ-५

है- 'बृद्ध ने धीरे से पूछा-

'क्या बात है कान्ता?

'बाबूजी! वह तो सब खा गया!'

'कितने, दो सेर लड्डू थे ?

'हाँ और पाव भर और मिठाई थी'

'खाने भी दे! तृप्त होकर आशीष देगा!'

'तृप्त होगा कहाँ से, मेरे पास उसे खिलाने के लिए अब कुछ बचा नहीं!'

'तो ले आऊँ? कितना, दो सेर और ले आऊँ?'

'न हो बाबू जी, तीन सेर ही ले आओ सामने वाले हलवाई की दुकान से, पर जल्दी ले आओ'

काका की आवाज आई- 'बेटी!'

'आई काका!' कहकर कान्ता भीतर चली गई। पूछा-

'क्यों, पानी दूँ क्या ?'

'राधे-राधे! खाने मे पानी का क्या काम ? तुमने अच्छा किया कि जरा-सा पानी संग में सगुन को रखा कि, कहीं गले में फन्दा न पड़ जाए। लाली, पहले तो गले का फन्दा भी दूध से ही उतारते थे। पर अब तनिक देह फूल आई है। बुढ़ापा है न?'

लाली ने इस आश्चर्य से देखा कि, अगर यह खुराक बुढ़ापे की है, तो जवानी में तो शायद हलवाई की दुकान में हलवाई के सिवाय यह और कुछ भी नहीं छोड़ते होंगे। काका ने फिर कहा-

'बेटी, किसी ने भर के लोटा पहले ही खाने के संग धर दिया, तो समझो आधी भूख तो हमारी तब ही मर गई। बेटी, एक जिजमान का लड़का एक दिन पूछता है कि पंडित जी, तुम इतना खा कैसे लेते हो?'

कान्ता ने मुंह पर साड़ी रखकर हँसी छिपाई।

काका कहते रहे- 'बेटी जानती हो हमने क्या कहा ?'

'क्या, काका ?'

'राधे-राधे! हमने कहा कि बेटा पुरखापत्ती से यही काम होता आ रहा है, सो हमारे तो रोम-रोम में राधा के नचैया ने मिठास भर दी है, तब ही हम मीठे (मीठे और कड़वे दो प्रकार के चौबे होते हैं।) प्रसिद्ध हुए है। कौन किसी को देता है, और किसी से कुछ लेता है? वह ही

देता है, वह ही खाता है।

'काका, खाते चलो।' कान्ता ने कहा।

'अहा! बेटी, तेरा कल्याण हो। तेरा सुहाग बढ़े....''[1]

दूसरी ओर 'परमसुख' पंडों और पंडिनों के कुकृत्यों का नंगा दृश्य प्रस्तुत करता दिखाई देता है- ''महाराज, सब पंडों की पंडिन जिजमानों की सेवा करके पोटती हैं पर आपकी गिरिधर की नई माँ तो दिनभर मुँह फुलाये रहती है। लोग तो यहाँ महराज सब माल हड़पने का काम करते है, और हमारी गिरिधर की अम्मा एक धोती चुरायेगी तो बेटा बाहर धर देगा निकाल कर। उसका तो महाराज मन ही नहीं लगता।''[2]

यहाँ लेखक का व्यंग्य सौम्यता के साथ तीखापन लिया हुआ है। लेखक ने जिजमानों की श्रद्धा की अवहेलना भी नहीं की है। कान्ता के वृद्ध पिता काका से कहते है- ''वैसे तो भीतर सब था, परन्तु बाहर गया तो ताजी मिठाई उतर रही थी, सोचा इन्हें खिलाऊँ तो बड़ा पुण्य होगा। आप अगर ऐसे ही चले गये तो यह दुख मै कैसे सहूँगा? ध्यान दीजिए, मेरी एक ही बेटी है और वह भी विधवा है, बेचारी का पति बचपन में ही गुजर गया, तब से धर्म ही उसके जीवन का आधार है''[3]रांगेय राघव ने धर्म के विकृत रूप पर 'परमसुख' के माध्यम से व्यंग्य किया है- ''काम-धंधों में यह धंधा भी सहज नहीं है। जिजमान अब तुम्हारे ज़माने के नहीं रहे कि, धर्म मानते हो अब तो कहो, एक तरह की ठगई रह गई है।''[4]

वास्तव में धर्म के नाम पर, सच्चाई कहीं भी नहीं रह गई है। हर जगह नकली साधु-सन्यासी पैदा हो गए हैं और सबका काम है, गरीब-अमीर सभी तरह के लोगों से किसी-न-किसी तरह से पेट भरना और मौज मस्ती करना। इतना ही नहीं, साधु-सन्यासियों को पक्के एवम् अच्छे मकान का मोह सताने लगता है और आगे न जाने क्या-क्या कल्पना वे करते चले जाते हैं। अपनें मंसूबों में वे कामयाब भी होते हैं।

---

१. काका, पृष्ठ-१७

२. वही, पृष्ठ-५५

३. वही, पृष्ठ-१९

४. वही, पृष्ठ-४६

'बाबा बटेसरनाथ' में 'नागार्जुन' ने 'रूपउली गाँव' के लोगों पर टुनाई पाठक और जैनारायण के भय और आतंक के प्रभाव की आलोचना करते हुए उनके धार्मिक दिखावे की आड़ में छिपी हुई उसकी लोभी मनोवृत्ति पर व्यंग्यपूर्ण चोट किया है-"....'सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को' सो उनसे छिपा नहीं था। पाठक की माँ वर्ष में एक बार भागवत् का पारायण करवाती थीं, नौ दिनों तक। जैनारायण के घर प्रति मास, संक्रान्ति के दिन, सत्यनारायण की पूजा होती थी।परन्तु इससे क्या! जमीन की उनकी भूख का न ओर था, न छोर.... परमार्थ और स्वार्थ साथ-साथ चलते रहे इन परिवारों में।"[१]

'लोक-परलोक' में 'शंकरानन्द' की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है।

'शंकरानन्द ने कहा, 'भोला नन्द, तेरा श्लोक बोलने का ढंग अशुद्ध है। तू श्लोक ठीक ढंग से याद कर ले न। इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। किसी दिन कोई संस्कृत का जानकार आ गया, तो भद्द उड़ेगी, समझा। और साष्टांग करना भी तुझे नही आता। लम्बा लेटने के बाद नाक बिल्कुल से जमीन से मिल जानी चाहिए और हाथ सपाट। मुट्ठी बँधी मत रखा कर।'

'जी अच्छा।'

'जी अच्छा, रोज ऐसे ही कह देता है। सीख ले ल। व्योमरूपा कहा गया?'

'सो गया। आज उसने इतना खा लिया कि, बैठे न रहा गया। खाऊ है खाऊ।'

'खाने का तो तुम लोगों को कोई कष्ट नहीं ह। न ?' स्वामी ने पूछा।'

'पिछलें दिनों से तो मोज ही मोज है; स्वरूपानन्द ने उत्तर दिया।

'एक बात का ध्यान रखना जरूरी है। कोई आये तो उसे मेरे पास सीधे मत आने दिया करो; कहो- 'स्वामीजी समाधि में है', या यह कि, 'इस समय चिन्तन कर रहे हैं। कभी यह कि, 'इस समय महाराज भगवान से बातें कर रहे है।' लेकिन यह बात कभी-कभी करनी चाहिए।

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-१२२

हमेशा नहीं, समझे?

'जी अच्छा; भोला ने उत्तर दिया।

'जब किसी यात्री को लेकर आओ तो उसके सामने खुद भी साष्टांग प्रणाम करके खड़े हो जाया करो। जब मैं ऊपर निगाह करके तुम्हें देखूँ तो हाथ जोड़ कर निवेदन करो, 'दर्शन की इच्छा से कुछ लोग आये है। व्योमरूपा को भी समझा देना, हाँ।'

'जी अच्छा।'

'बार-बार तेरा 'जी-अच्छा' मुझे अच्छा नहीं लगता।'

'फिर क्या कहूँ ?

'जो आज्ञा' कहा कर'

'जो आज्ञा।'

'नहीं, जो आज्ञा महाराज।' महाराज कहने की आदत डाल ।यह स्कूल नही है। यहाँ जितना आडम्बर होगा, उतना पुजोगे। याद रखो, इस काम में बहुत चालाकी की जरूरत है, समझे। तुम लोग गले में रूद्राक्ष की माला डाले रहा करो। 'हरिओम् , शिवोऽहम्' कहा करो'।

'जी, अच्छा!' भोला ने जवाब दिया तो स्वामी जी हँस कर बोले-

'महाराज कह। स्वरूपानन्द, तू तो क्लर्क रह चुका है, जरा सबको समझाया कर ।'.....[1]

स्वामी शंकरानन्द अपने शिष्यों को समझाता है- "देखो, तुम तीनों को मिलकर रहना चाहिए। जानते हो हमारा काम ठीक नहीं चलेगा तुम्हें भी जाना पड़ेगा। फिर कहाँ जाकर नौकरी करोगे, तब क्या ऐसा आराम मिल सकता है?'

'पर स्वामीजी, मुझे लगता है यह बेईमानी का काम है; धोखा है।'

शंकरानंद चुप रहकर कहने लगा, 'बेईमानी, धोखा कहाँ नहीं है? फिर हम ईश्वर का नाम भी तो लेते हैं। मेरी इच्छा है, यह आश्रम पक्का बन जाय तो इसी के सहारे घर का मकान भी पक्का करवा लूँ; लड़कों को

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-४६

ठीक काम पर लगवा दूँ।

'कहीं शहर के पास रहिए न, यहाँ हमारा मन नहीं लगता,' भोला ने कहा।

'हाँ सलाह बुरी नहीं है।'

'तुम नहीं समझते। गंगा के किनारे ही यह काम ठीक हो सकता है। यात्री यहाँ आते है। शहर में किसको फुर्सत, है, फिर हमें तो लोगों की श्रद्धा से फायदा उठाना है। जो दूसरे को अपनी तरफ खींच सकता है, आज के जमाने में वह उतनस ही बड़ा बन सकता है। फिर यहाँ के लोगों को मुर्ख बनाकर उनसें फायदा भी उठाया जा सकता है।'....[1]

रांगेय राघव के 'काका' 'रामधुन' को पूजा-पाठ करने की विधि आदि सीखाना चाहते हैं किन्तु रामधुन की रूचि इसमें नहीं है- ''इसलिए तो चाहता हूँ कि, तू कुछ सीख ले। पुरखों का सदा से होता आया काम है, बेटा । यह अपना अधिकार है। संसार में अब धरम कम होता जा रहा है,पर क्या इसीलिए हम भी छोड़ दे ? ....कौन देता है ? कौन लेता है ? सब अपना-अपना खाते हैं। जिसका जो हक है, वह उसे लेना ही चाहिए।''[2] किन्तु 'लोक-परलोक' में स्वामी जी के शिष्य इस विद्या में निपुण हैं। स्वामी जी को कोई चिन्ता नहीं है, उन्हें अपने शिष्यों की योग्यता पर गर्व है।''तीनों शिष्य गिद्ध की तरह यात्रियों की ताक में रहते। कुछ गाँव के ब्राह्मण भी, जिन्हें स्वामी जी के भण्डारे से स्वादिष्ट भोजन मिलते, यात्रियों को फंसाकर लाते। घाट पर बैठी चमेली यात्रियों में शंकरानन्द महाराज के दर्शनों की उत्सुकता बढ़ाती।''[3]

धर्म-कर्म के कदम-कदम पर स्वार्थ का बोलबाला है जिसमें धन-लिप्सा तो है ही, वासना की भूख भी ब्राहमण-पुरोहितों को कभी-कभी अत्यधिक पीड़ा पहुँचाती है।धर्म के नाम पर उनकी यह भूख भी मिटाने वाले आसानी से मिल जाते है। 'काका' का परमसुख 'चम्पा' को देखकर मंत्रमुग्ध हो जाता है। वह गोंसाई जी महाराज से कहता है- ''कोई क्या देगा, कोई क्या दान करेगा। सात पीढ़ियाँ इसी देहरी से पलती रही। मैं उसे चेला बनाऊँगा, महाराज। बाप-बेटी दोंनो को। बस, जरूरत

---

१. लोक-परलोक, पृष्ठ-४७

२. काका, पृष्ठ-२३

३. लोक-परलोक, पृष्ठ-४९

पड़ने पर इस भोली-भोली लड़की को लेजाऊँगा, ये समझा देंगी? क्यों गुरू?''[1]

परमसुख की वासनात्मक मनोवृति का साक्षात्कार 'उसके और चम्पा के मध्य बातचीत' से ही हो जाता है-

'परमसुख ने कहा-बैठो राधे! कहाँ चली?'

'काम है भीतर।'

'काम तो होता रहेगा, बात थोड़े ही होगी।'

'चाचा', चम्पा ने व्यंग्य किया- 'अब कितनी उमर होगी तुम्हारी?'

'मुदा पचास होगी। पर मरद का क्या? जितना बड़ा चाहे बन ले? हमें देखों दिल हमारा अभी तक जवान बना हुआ है।'

चम्पा ने छेड़ा- 'गैया अपने को शेर कहने लगे तो क्या हेा चाचा? दिल का क्या है?'

'देखो चेली! ऐसे न कहो। गोसाई जी की चेलियों को हमने सदा अपना गुरू बनाया है, समझी?'

चम्पा झेंपी। परमसुख घिसा हुआ था। बोला -'लो हाथ में बाँसुरी या सितारा वहीं चली जाओ मथुरा बिंदराबन बीच के बिरला सेठ के मन्दिर द्वोर। आता-जाता तुम्हारे इस मुखड़े को देख भेंट चढ़ाएगा। हमें चेला बना लेना।'

'मैया कह लोगे तुम?' चम्पा ने आघात किया।

'क्यों नहीं?' परमसुख ने हँसकर कहा- 'तुम गुरूआनी हम चेला। ऐसे ही जैसे अब तुम चेली, गोसाईं जी गुरू!'

उसके इस हास्य को चंपा नहीं सह सकी। वह लाल हो गई किन्तु जीवन के इस पक्ष में एक ओर धार्मिकता थी, दूसरी ओर निर्लज्जता। एक आवरण था, एक वास्तविकता।''[2]

एक प्रसंग में परमसुख बिंदिया से कहता है- ''वह पोस्ट मास्टर आया है बाबू ब्रजकिशोर। उसके पास माल तो है। एक छोरी है विधवा। और ब्रजकिशोर बीमार है। मेरे हत्थे चढ़ता तो रकम निपोटता। पर काका

---

१. काका, पृष्ठ-५४

२. वही, पृष्ठ-५२

की बहीं में उसकी सात पुश्तों के नाम थे। मै क्या करता?'

'उसकी लड़की कैसी है?'

'जवान है।'

'खूबसूरत है?'

'खूबसूरत? हमारे गोसाईं जी ने तो जब से देखा है तब से लम्बी साँस लेकर राधे-राधे के सिवा कुछ कहते नहीं।'....."[1]

'मैला आंचल' के 'महंथ सेवादास' इलाके के ज्ञानी साधु समझे जाते थे- "सभी सास्तर-पुरान के पंडित! मठ पर आकर लोग भूख-प्यास भूल जाते थे। बड़ी पवित्र जगह समझी जाती थी। लेकिन जब महंथ, दासिन को लाया, लोगों की राय बदल गई। बसुमतिया मठ के महंथ से इसी दासिन को लेकर कितने लड़ाई झगड़े और मुकदमें हुए।

बसुमतिया का महंथ कहता था, लछमी दासिन का बाप हमारा गुरू-भाई था, इसलिए बाप के मरने के बाद उस पर मेरा हक है। सेवादास की दलील थी। लछमी पर हमारा अधिकार है। अंत में लछमी कानूनन सेवादास की हुई। सेवादास के वकील साहब ने समझाकर कहा था- महंथ साहब! इस लड़की को पढ़ा-लिखा कर इसकी शादी करवा दीजियेगा। महंथ साहब ने वकील साहब को विश्वास दिलाया था- वकील साहब, लछमी हमारी बेटी की तरह रहेगी.... लेकिन आदमी की मति को क्या कहा जाए। मठ पर लाते ही किशोरी लछमी को उन्होंने अपनी दासी बना लिया। लछमी अब जवान हुई है, लेकिन लछमी के जवान होने से पहले ही महंथ सेवादास की आँखे अपनी ज्योति खो चुकी थीं। पता नहीं, लछमी की जवानी को देखकर उसकी क्या हालत होगी! अब महंथ सेवादास को बहुत लोग प्रणाम-बंदगी भी नहीं करते।.... धर्म भ्रष्ट हो गया है। बगुलाभगत है। ब्रह्मचारी नहीं, व्यभिचारी है।"[2] 'रेणु' ने किसनू के माध्यम से मठों के महंथों पर तीक्ष्ण कटाक्ष किया है। "अंधा महंथ अपने पापों का प्राच्छित कर रहा है। बाबाजी होकर जो रखेलिन रखता है, वह बाबाजी नहीं। ऊपर बाबाजी, भीतर दगाबाजी! क्या कहते हो?

---

१. काका, पृष्ठ-३९

२. मैला आंचल, पृष्ठ-२६

रखेलिन नहीं, दासी है? किसी और को सिखाना पाँच बरस तक मठ में नौकरी किया है; हमसे बढ़कर और कौन जानेगा मठ की बात? और कोई देखे या नहीं देखे, ऊपर परमेसर तो है। महंथ जब लछमी दासिन को मठ पर लाया था तो वह एकदम अबोध थी, एकदम नादान। एक ही कपड़ा पहनती थी। कहाँ वह बच्ची और कहाँ पचास बरस का बूढ़ा गिद्ध! रोज रात में लछमी रोती थी- ऐसा रोना कि जिसे सुनकर पत्थर भी पिघल जाए। हम तो सो नहीं सकते थे। उठकर भेसों को खोलकर चराने चले जाते थे। रोज सबह लछमी दूध लेने बथान पर आती थी, उसकी आँखे कदम के फूल की तरह फूली रहती थीं। रात में रोने का कारण पूछने पर चुपचाप टुकुर-टुकुर मुँह देखने लगती थी.... ठीक गाय की बाछी की तरह, जिसकी माँ मर गई हो....! वैसा ही चंडाल है यह रमदसवा। वह साला भी अंधा होगा, देख लेना।.... महंथ एक बार चार दिन के लिए पुरैनिया गया था। हमने सोचा चार रात तो लछमी चैन से सो सकेगी। ले बलैया। बाघ के मुँह से छूटी तो बिलार के मुँह में गई। उसके बाद लछमी ऐसी बीमार पड़ी कि, मरते-मरते बची। पाप भला छिपे? रामदास को मिरगी आने लगी और महंथ सेवादास सूरदास हो गए। एकदम चौपट!.... हमारा तीन साल का दरमाहा बाकी रखा है। भंडारा करता है! हम उन लोगों को साधू नहीं समझते हैं।''[१]

पाखण्डी साधुओं के तो बड़े अनोखे नखरे होते हैं। किसी-किसी की साधना तो बिना स्त्री की पूरी होती ही नहीं। 'जुलूस' में फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने एक ऐसे ही पाखण्डी की मनोवृत्ति का जिक्र किया है। ''जयराम सिंघ जानता है, तालेवर गोढ़ी को 'सवर्ण' छोड़कर-अपनी जाति या अपने से छोटी जाति की औरतों पर कोई लोभ नहीं।.... इस बार साइकिल की कीमत पहले ही वसूल लेनी होगी।

तालेवर गोढ़ी बोला- बात यह है जयराम कि तुमसे क्या छिपाना? इस बार 'हरदुआर' जी में हम एक साधूबाबा के पास जाकर बैठे। हाथ की रेखा देखकर साधूबाबा ने बहुत कुछ कहा। जब मैंने पूछा कि बाबा यह संसार का माया-मोह कब कटेगा तो बोले-बच्चा! अभी हड़बड़ाता

१. मैला आंचल, पृष्ठ-२५

कयों है? अभी तो एक एड़ी तक केशवाली का तलवा सहलाना बाकी है।

-एकदम ठीक बोले है साधूबाबा! आप हुकुम दीजिए तो हम लग जाएँ।

-अरे नहीं-नहीं। मै तो, यों ही एक बात कह रहा था।

जयराम सिंघ जानता है- इस बूढ़े कामी के हुकुम देने की यही भाषा है। इससे पहले भी हर बार इसी तरह मुसकरा कर कहा था- हम जो साधना करते हैं उसके लिए औरत बहुत जरूरी है। तन्त्र सिद्ध करने के लिए 'भैरवी' का होना बहुत जरूरी है।''[1] ''औघड़दानी के तन्त्र में कोई मिलावट नहीं। इनके मन्त्र पर ब्राह्मणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, कभी। इसका सबूत यह है कि जहाँ दूसरे तान्त्रिक-भैरवी के रूप मे ब्राह्मण और गुरू कन्या को छोड़कर बाकी सभी जाति की विवाहिता लड़की को 'चक्र' में लाने को कहते हैं- वहाँ औघड़दानी कहते, सोलह साल से पचास तक किसी उम्र की और किसी जाति की नारी को 'भैरवी' बनाया जा सकता हैं।

इसीलिए तालेवर गोढ़ी अपने 'चक्कर' के लिए खास-तौर से 'सवर्ण' औरतों को मँगवाता!....''[2] यहाँ धर्म की आड़ में वासनात्मक मनोवृत्ति की बू आती हैं।

'मैला आंचल' का 'बालदेव' लछमी के शरीर से खास सुगन्ध की अनुभूति करता है- ''लछमी के शरीर से एक खास तरह की सुगन्ध निकलती है। पंचायत में लछमी बालदेव के पास ही बैठी थी। बालदेव को रामनगर मेला के दुर्गा मंदिर की तरह गंध लगती है- मनोहर सुगन्ध! पवित्र गंध!.... औरतों की देह से तो हल्दी, लहसुन, प्याज और घाम की गंध निकलती है।''[3]

आँचलिक शब्दों के प्रयोग से रेणु की भाषा एक विशिष्ट रंग-रास का आस्वाद उत्पन्न करती है। यह व्यंग्य की सृष्टि करती हुई और धारदार बन जाती है। बालदेव को लछमी के शरीर की सुगन्ध की बार-बार याद आती है- ''नींद आती है।.... बार-बार लछमी दासिन की याद आती है।

---

१. जुलूस, पृष्ठ-३६

२. वही, पृष्ठ-४१

३. मैला आंचल, पृष्ठ-३३

आते समय कह रही थी -आज यहीं परसाद पा लीजिए बालदेव जी!... परसाद! लछमी के शरीर की सुगन्ध!...."[१] 'अन्योक्ति' में 'रेणु' लछमी की देह-गंध से वौराये हुए बालदेव की चित्तवृत्ति का रहस्य खोलते हैं। यह भाषा-शिल्पी अद्‌भुत ढंग से व्यंग्य की सृष्टि करता है। बालदेव को लछमी के देह की गंध कब नसीब हुई थी? जब लछमी पंचायत में बालदेव के निकट बैठी थी। सामान्य घरेलू श्रमशील औरतों की देह-गंध की तुलना करते हुए रेणु, लछमी दासिन के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हैं। दूसरी ओर लेखक में एक धनी वर्ग (तहसीलदार) की बेटी के प्रति गरीब आदमी की मनोवृत्ति को भी व्यंग्य के द्वारा उभारने का प्रयत्न भी किया है- "साबुन? साबुन नहीं है? अरे, कपड़ा धोने वाला साबुन नहीं, गमकौआ साबुन चाहिए। भगत की दुकान में गमकौआ साबुन कहां से आयेगा? कटिहार में मिलता है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली जब गमकौआ साबुन से नहाने लगती है तो सारा गाँव गम-गम करने लगता है। तहसीलदार साहब कहतें हैं, कमली दीदी से साबुन माँग कर लादो!...."[२]

जटाधारी भस्मांगी पाखण्डी साधुओं ने भोली-भाली अशिक्षित जनता पर अन्धविश्वास एवं वाह्याडम्बरों का आंतक जमा रखा है। ये मठाधीश कितने घटिया एवम् निम्नतम मनोवृत्ति के होते हैं, इसका प्रमाण 'मैला आंचल' के 'नागबाबा' के बेधड़क एवम् बेबाक, आक्रोशपूर्ण वाणी से ही मिल जाता है जो महंथों अथवा पुजारियों के चरित्र का खुलासा करता है। लेखक ने अपनी अभिव्यक्ति व्यंग्य के तेवर में की है।- "नागबाबा जब गुस्सा होते हैं तो मुंह से अश्लील-से-अश्लील गालियों की झड़ी लग जाती है।.... आते ही लछमी दासिन पर बरस पड़े- 'तेरी जात को मच्छड़ काटे! हरामजादी! रंडी! तैं समझती क्या है री? ऐं, दुनिया को तैं अन्धा समझती है? बोल!..... लाल मिर्च की बुकनी डाल दूँ। छिनाल! तैं आचारजगुरू को गाली देती है? तेरे मुंह में कुल्हाड़े का डंडा डाल दूँ, बोल! साली, कुत्ती! साधू का रगत बहाती है और बाबू लोग से मुंह चटवाती है! दूँ अभी तेरे गाल पर चाँटा; हट जा यहाँ से, कातिक की कुतिया!"[३]

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-३४

२. वही, पृष्ठ-३९

३. वही, पृष्ठ-९०

किन्तु फिर भी लोग इन फूहड़ गालियों को नागा साधू का आशीर्वाद और प्रसाद समझ कर हजम कर जाते हैं। ऐसे ही लछमी भी इसे आशीर्वाद समझ ग्रहण करती जाती है- "लछमी हाथ जोड़कर बैठी रहती है। नागा साधू की गालियों पर लोग ध्यान नहीं देते, बुरा नहीं मानते। वह तो आशीर्वाद है। वह नागाबाबा का पाँव पकड़ कर कहती है, 'छिमा कीजिए परभू दासिन का अपराध!'...."[1] गुस्से में नागबाबा रामदास की पिटाई भी कर देते हैं- "रामदास की तो खड़ाऊँ से पीटते-पीटते देह की चमड़ी उध ेड़ दी है नागाबाबा ने- 'सूअर के बच्चे, कुत्ते के पिल्ले! तैं महंथ बनेगा रे! आ इधर! तुझको खड़ाऊँ से टीका दे दूँ महंथी का! तेरी बहान को! (खटाक्) तेरी माँ को! (खटाक्) घसियारे का बच्चा! जा लक्कड़ लाकर धूनी में डाल!"[2]

किन्तु धैर्य की सीमा का जब पूर्णतः उल्लंघन हो चुका होता हे तो नागबाबा की क्या हालत होती है- "नागबाबा दाढ़ी छुड़ाते हैं, थप्पड़ों की मार से आँखो के आगे जुगनू उड़ते नज़र आ रहे हैं। गाँजे का नशा उत्तर गया है।.... आखिर दाढ़ी और जटा नोचवा कर, कुल्हाड़ा छोड़ कर ही भागते हैं।.... पकड़ो, पकड़ो! छोड़ दो, छोड़ दो! अब मत मारो! नागाबाबा भागे जा रहे है। भभूत लगाया हुआ नंग-धड़ग शरीर, बिखरी हुई जटा! दौड़ते समय उनकी सूरत और भी भयावनी मालूम होती है। गाँव के कुत्ते दौड़ रहे हैं।"[3]

दूसरी ओर 'काका' के 'वन महाराज' की महिमा का गुणमान गोसाइन जी परमसुख से कर रही हैं। रांगेय राघव ने वन महाराज जैसे पाखण्डियों पर गहरी छींटाकसी की है जो कि आधुनिक समाज में गहरा धुन्ध बनकर छा चुके हैं और स्वंय मालामाल तो बनते ही हैं, ऊपर से अशिक्षित एवं अन्धविश्वासी जनता को मालामाल बनाने के सुनहले सपने भी खूब दिखाते हैं- "वन महाराज के यहाँ कभी किसी ने कुछ नहीं दिया, कुछ लिया नहीं, पर वहाँ भीड़-सी लगी रहती है। दुकानें लग गई है। रोज भंडारा होता है पर वह किसी से बात भी नहीं करते।

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-९१
२. वही, पृष्ठ-९१
३. वही, पृष्ठ-९३

भीतर समाधि-लगाए बैठे रहते है। लोग कहते हैं, उन्हें कौन देवता सामान दे जाते हैं। वहाँ तो बड़ी रौनक हो गई है।.....

'उनके गुरू महाराज है पानी वाले साधू जी, जो सदा एक ही पाँव जमुना जी में डाले रहते हैं। परमसुख, जानता है न?'

'हाँ देवी। 'साकसात (साक्षात्) तो नहीं देखा, पर गुण सुनते थे। सोचा, यह तो तीरथ-भूमि है, यहाँ क्या नहीं हो सकता? रोज-रोज चमत्कार होते हैं, कुछ भले, कुछ बुरे, कुछ झूठे.....'

'नहीं, परमसुख नहीं, पाप मत करो, झूठ नहीं। सच कहो सच। पानी वाले महाराज!' उन्होंने मग्न होकर कहा- 'पानी वाले! वह क्या किसी से कुछ लेते हैं? कुछ नहीं। हाथ पर जितना आ जाय उतनी भिक्षा लेते हैं, बस। उपदेश देते है। गुस्सा हो गए तो गालियों का बौछार करते हैं। पर उनके चेले, जो इस दुनिया से गुरू की तरह बहुत दूर नहीं छोड़ पाये है, वे दीन-दुखियों का फायदा करते है?'

'क्या फायदा मैया?'

'बीमार हो तो अच्छा कर दें। धरती में गड़ा धन दिखा दें। क्या नहीं है उनके हाथ में? तुम अपने ही आदमी हो, किसी से कहना मत। आज दुपहर उन्होंने मेरे दो सौ तोले सोने को चार सौ कर दिया। सुनार को दिखा लिया। पूरा पक्का सोना है।'

परमसुख की आँखो ने उसके फूले गालों से बगावत करके बाहरनिकल आने का प्रयत्न किया। कहा- 'सच?'

गोसाईं जी ने भी स्वीकृति दी।

'तब फिर कैसा सक-सुबा?' परमसुख ने भक्ति से कहा- 'सवेरे मै आया ही था। तब तो कोई बात न थी।'

'तब मै लौट आई थी।'

गोसाई जी ने कहा- 'अगर वन महाराज की दया हुई तो इनके पुत्र भी हो जायगा, ऐसा एक विचार उनसे कहा गया। हम चाहते हैं परमसुख, आपस की बात है, तुम भी कुछ पैदा कर लो ऐसे में।'

'महाराज की दया होगी तो फिर इस संसार में क्या नहीं हो जायगा?'

'परमसुख, साधना कठिन थी तनिक। वरना उन्होंने बताया कि,

वह धरती में गड़े दफीने दिखा सकते हैं। कल उन्होंने मुझे एकान्त में कहा। मैंने भरोसा नहीं किया। तब उन्होंने कहा- 'अच्छा बेटी, देखेगी?' और एक चेला बुलाया। कहा- 'किसी अजनवी को बुला ला।' वह एक को ले आया वन महाराज ने उसकी आँखों पर हाथ फेरा और कहा- 'जा, ढूँढ़ ला कहीं कुछ है पास में।' वह बढ़ा ।एक जगह ठिठका। गुरूजी ने कहा, 'खोद!' खोदा तो छः इंच पर रूपयों से भरा एक कुल्हड़ निकला। पर शक्ति पाँच मिनट उसमें रही, फिर खो गई। ऐसा हो कि उसमें ठहर जाय। तब काम चले। पर मै ठहरी स्त्री, इतनी साधना कैसे करूँगी और न तुम्हारे गोसाई जी कर सकेंगे, भला इतना काम है यहाँ? क्या करू? हाथ में आयी विद्या निकली जा रही है, परमसुख! कल चलोगे? वह चार सौ तोले का कल दुगुना करेंगे।''[१]

उपन्यासकारों ने तीर्थ-व्रत में विश्वास करने वालों पर भी भरपूर छींटाकसी की है। 'सोनामाटी' में विवेकी राय का व्यंग्य उल्लेखनीय है। 'रामरूप' की माँ पचकोश की यात्रा पर है। रामरूप ऋषि विश्वामित्र के पौराणिक सिद्धाश्रम वाले तीर्थ स्थल बक्सर जाने के प्रति अनुत्साह प्रकट करता है- ''कह गई है कि, बचवा ऊपरी बेरा मेला में जहाँ इस गाँव की लिट्टी लगती है, आयेगा। लिट्टी लगाकर वह उसे खोजेगी। अब चले रामरूप कोसों तक काले-काले मिट्टी के ढेलों वाले मैदान की बिनमंजी ऊबड़-खाबड़ कुराह में घसिटते पचकोस की लिट्टी खाने? क्या सार्थकता है अब ऐसे पर्वों की? धर्म नहीं, आदमी को आज अर्थ चाहिए। पैसा है तो पैसठ का खूसट बूढ़ा पच्चीस की पानफूल- सी छोकरी उड़ा घर में कैद कर नया पचकोस लगा सकता है। याद आते ही अब भी रामरूप के भीतर धक्-धक् करने लगता है।''[२] रामरूप का अन्तर्द्वन्द व्यंग्य करता है- ''पर्व-त्योहार के सूत्रधार इन बूढ़ी माताओं के काँपते हाथ कितने दिनों तक उन्हें संभाल पाएंगे? उम्मीद नहीं कि अगली नयी पीढ़ी इन खूबसूरत मूखर्ताओं की कीमत आँक सकेगी। लोग अब बुद्धिमान होते जा रहे हैं और जब वे अधिक बुद्धिमान हो जाएंगे तब क्या होगा? शायद मेला नहीं लगेगा।''[३] विवेकी राय ने व्रत के पीछे छिपे हुए अंध-विश्वास पर कटाक्ष

---

१. काका, पृष्ठ-९५-९७

२. सोनामाटी, पृष्ठ-३२

३. वही, पृष्ठ-४०

किया है- "राम-राम। नांव मति ल। खइला के के कहो, पानियों ना पीअल जाला। जे ब्रत वाली तिरिया पानी पी लीही ओकर मछरी के जनम होई। एही तरे अनाज खाये वाली मेहरारू सूअरि के, दूध पीये वाली नागिन के आ एह दिन मीठा खाये वाली चिउंटी के जनम पाई। एकदम निखंड ब्रत के महातिम ह। सास्तर में साफ-साफ़ लिखल बा।.... सास्तर पंडितजी का पास बा। ओमे तीज के कहनी बा। पूजा का बाद हम कई बेर सुनले बानी। कैलास परबत पर सिवजी पारवती जी से एह गुप्त ब्रत के कहनी कहले हउअन ।भादों सुदी तीज के....।"[१]

किन्तु श्रद्धा एवम् विश्वास रखने वालों को व्रत से विशेष सुख एवम् शाति की अनुभूति होती है। रामरूप भी ऐसा ही अनुभव कर रहा है- "उसका मन बहुत हल्का हो गया था। वह भीतर बहुत शान्ति का अनुभव कर रहा था। कई महीनों की खोई वह शान्ति पलक झपकते कहां से आ गयी? एक विचार आया, क्या वह पलायन कर रहा है? कठिन संघर्षो, राजनीतिक पराजयों और कड़वे अनुभवों से भागकर ही तो वह नहीं व्रतों और उनकी श्रद्धा-विश्वास-मूलक कहानियों में अपने को डुबोकर छिपाना चाहता है? अथवा भूले-बिसरे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आयामों के नाम पर इस बीते युग की भोली-भावुक गलियों में रमना चाहता है? भादों वाले औरतों के इन निराहर व्रतों में अपने लिए वह सावन के त्यौहारों की भाँति खाने-पीने वाला अवसर खोज रहा है और ऋषि पंचिमी वाले मात्र जंगली तिन्नी के चावल से बिदक कर भादों के, अन्तिम त्यौहार अनंत पर आकर्षित होते हैं? वह कई बार मन-ही-मन दुहरा चुका, की पेट मारे राम-नउनिया कि रे अनतवा भाई।' यह सब क्या है? परम्पराओं में सिर छिपाकर शान्ति का अनुभव करना ही तो पलायन हैं।

नहीं, यह पलायन नहीं, आत्मान्वेषण है, उसने फिर बहुत गहराई से सोचकर दृढतापूर्वक बात को मन-ही-मन दुहराया। व्रतों में जातीय जीवन का उल्लास है। उसमें वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन की सम-रसता है। इस प्रकार ऋतुओं की इस विविध राग-भीनी रंगीनी में डूबना हमारा जातीय स्वभाव है। अपने स्वभाव की विस्मृति और उससे बाहर जाना तनाव है।"[२]

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-४११

२. वही, पृष्ठ-४११

धर्म का आधार प्राय: परम्परा पालन और अन्धविश्वास रहा है जिनमें अज्ञनता एवम् पाखण्ड के ईटों को नींव पहले से ही रखी जा चुकी थी। धर्म के नाम पर मन्दिरों में स्थापित देवी-देवताओं के सम्मुख सिर झुकाकर पैसा चढ़ाने, तिलक-छापा लगाने आदि में ही पूर्ति समझी जाने लगी थी। आज इस पाखण्ड के पीछे पूरी तरह से स्वार्थ का ही बोलबाला है। अनेकों तरह के स्वार्थ इसके पीछे लगे हुए हैं। शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में 'करैता' गाँव के लोगों का 'असकामिनी देवी' के प्रति अनुराग और अन्धश्रद्धा का व्यंग्य के माध्यम से खण्डन किया है-

''करैता मेले की शुहरत और बड़प्पन का एक कारण 'असकामिनी' देवी का प्रताप भी था। देवी-मन्दिर की देहरी पर माथा झुकाने और आशीर्वाद पाने के लिए दूर-दूर से यात्री लोग आते। गोगई उपधिया 'असकामिनी' का अर्थ 'आकाश गामिनी' बतलाते। 'ई मामूली देवी नहीं। अष्टभुजा हैं। अष्टभुजा! जब कंस ने देवकी की कन्या को पत्थर पर पटका तो वह आकाश में चली गई और वहीं से बोली कि, मुझे क्या मारता है बेवकूफ; तेरा मारनहार जनम गया है गोकुला में। हाँ, तभी से वह आकाशगामिनी कहलायीं। वहीं है ये देवी।' मगर सेवक लोग देवी के नाम का महत्व आस पूरने वाली ही लगाकर सन्तुष्ट होते थे। गाँव के स्व. जमींदार जैपाल सिंह के पितामह स्व. ठाकुर देवीचरण सिंह निपूते थे। विंध्यांचल में साक्षात् भगवती ने दर्शन दिया था उनको। फिर अपनी मूर्ति देकर कहा था कि ले जा इसे अपने गाँव में प्रतिष्ठित कर। तेरी सकल कामना पूरी होगी। विन्ध्यवासिनी धाम से यह मूर्ति देऊ सोखा ले आये थे। इसे ठाकुर देवीचरण ने ही पत्थर का विशाल मन्दिर बनाकर पूजा-अर्चा की विधि से पधराया। बाबू जैपाल सिंह के पिता जी के जमाने में मन्दिर में नया कलश चढ़ा। भगवती की दोनों आँखें सोने की बनी। आरती-पूजा का सारा साज-सामान नया किया गया। क्योंकि उसी साल करैता के जमींदार की सौभाग्यवती पत्नी की पवित्र कोख से जैपाल का जन्म हुआ। देवी के इस 'प्रताप' की कहानियाँ चारो और फैल गयीं और हर साल रामनवमी के अवसर पर बाँझ और निपूती औरतों की भीड़ इकट्ठी होने लगी।....

गोगई उपधिया देवीधाम के पुजारी थे। ठाकुर की ओर से पूजा-आरती, अर्चा-भोग के लिए उन्हें दस बीघे खेत माफी मिले थे। गोगई के लड़के शीतलाप्रसाद जब पन्द्रह-सोलह साल के हुए तो महाराज को बोध जगा कि, जब तक देश गुलाम है, पूजा-पाठ बेकार हैं। वे नरवन के कांग्रेसी नेता सुखदेव राम के झण्डाबरदार हो गये। जैपाल सिंह को बहुत गुस्सा आया। उन्होंने गोगई को पुजारी पद से निकाल बाहर किया। खेत छिन गये। उपधाइन रोती-कलपती छावनी पहुँची। मलकिन के बहुत समझाने पर जैपाल सिंह ने खेत वापस कर दिये। तब से उनके लड़के शीतलाप्रसाद मन्दिर के पुजारी बने। गोगई बहुत खुश हुए कि उन्हें पूजा-पाठ से छुट्टी मिली। खेत भी घर ही रह गये।''[१]

उपन्यासकार ने पुजारी-शीतलाप्रसाद के माध्यम से देवी-मन्दिर में आने वाली बाँझ औरतों की मनोकामनाओं के पीछे छिपे स्वार्थ पर गहरा व्यंग्याक्षेप किया है। शीतलाप्रसाद, दयाल पंडित से व्यंग्य पूर्वक कहता है- ''जबाना तो है चच्चा। खाने को नहीं मिलता, पर बेटवा खातिर मनौती की भीड़ घटती नहीं है। सारे देहात से चार-पाँच सौ बहिला-बाँझ तो आज आयी ही रही होंयगी। चौकठ पर माथा पटक-पटक कर बेटवा माँगती रहीं। हम भगवती माई से मन-ही-मन मनाते रहे कि, कम-से-कम ई पाँच सौ दरवज्जा तो बन्द ही रखो मइया। जो ही कम हो! जेतना आय गये हैं बाहर उतने ही को खाने को नहीं मिलता। जो बन्द हैं ऊ भी खुल जायँ कहीं, तब तो ई बानरी सेना पेड़ के पत्ते भी चाट जायेगी।''[२]

प्राचीन काल में बलि-पूजा की परम्परा सर्वाधिक विकृत धार्मिक कर्मकाण्ड के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यद्यपि आज भी कहीं-कहीं बालि पूजा की प्रथा तो है मगर, पर्याप्त कमी आई है। आदिवासी इलाकों में कहीं-कहीं आज भी बलि-पूजा होती है। आँचलिक उपन्यासों में इस विसंगति पर तीक्ष्ण व्यंग्याक्षेप मिलते हैं। धर्म के नाम पर बलि-पूजा की सार्थकता कहाँ तक सिद्ध होती है। यह तो मात्र अन्धविश्वास के परिणाम स्वरूप विकसित हुई है। इस घटिया अन्धविश्वास ने धर्म को और भी अधिक विकृत कर दिया है। 'नागार्जुन' ने 'बाबा बटेसरनाथ' में धार्मिक पूजा की इस विसंगति पर गहरा चोत किया है। 'बाबा बटेसरनाथ ने इस घिनौनी पूजा-विधि को न जाने कितनी बार अपनी आँखों के सामने होते

---

१. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-१०

२. वही, पृष्ठ-११

देखा हैं- "बारह महीनों में बीस- पच्चीस बकरे भी बलि चढ़ते थे- मचलतें हुए मुण्डों और तड़पते धड़ों की खूनी पिचकारियों से मेरा सीना सुर्ख हो उठता था, रगों में बिजली दौड़ जाती थी; क्षण-भर के पत्तों का हिलना रुक जाता था। मनौतियाँ चढ़ाने वालें श्रद्धालु लोग घड़ी-दो-घड़ी की पूजा- प्रार्थना के बाद घर चले जाते तो मौका पाकर दिन के समय कुत्ते और रात के वक्त गीदड़ मेरे बदन पर जमी बलिदानी लहू की मलाई चाता करते। चीटियों और झींगुरों का भी इसमें झाजा हुआ करता। छितरे-छितराये अच्छत गैरैयों की किस्मत में; पकवानों और मिठाइयों की झरी-झूरी कौओं के भाग में। बकरे का धड़ मनौती वाला टांग ले जाता और मूंडा ले जाता वह आदमी जो कि बलि के पशुओं का गला काटा करता। यह काम उन दिनों जैनरायन का ताऊ किया करता था और अब भानजा करता है। मेरे सामने ब्रह्मबाबा के निमित्त बलि होने वाले ये वही बकरे होते थे, जिन्हे मै भली-भाँति पहचानता था और इसीसे उनकी हत्या के समय मेरी तकलीफ और बढ़ जाती थी। पैदा होने के दस रोज बाद से ही वे मेरी गोद में खेले हेाते थे; शोखियों से भरी उनकी उछल-कूद, उनके मुलायम खुरों की खुशगवार धमक, छोटे-छोटे नथनों की उनकी हल्की फुरफुराहट मेरे दिल की धड़कनों का हिस्सा बन चुकी होती थी... और साल-दो-साल बाद वही बकरे जब नहलाकर मेरे सामने खड़े कर दिये जाते तो उनका आतंकित चेहरा देखकर मेरा कलेजा सूख जाता भाई! पंडित यजमान से पहले तो बकरे की पूजा करवाता, फिर हथियार की! पीछे पंडित के अनुसार यजमान दोनों हाथ जोड़कर बकरे से कहता-

"यज्ञ के निमित्त पशुओं की सृष्टि की विधाता ने
यज्ञ के निमित्त ही उन्हें मार गिराया जाता है
इसी कारण मै तुम्हें मरवाऊँगा
यज्ञ की हिंसा हिंसा नहीं हुआ करती...."

"और, मखौल तो देख, इस बलि के लिए घेर-घारकर बकरे से उसकी खुद की भी मंजूरी ले ली जाती। यानी, जब तक उसके मुँह से 'में में' की आवाज नहीं निकलवा लेते तब तक बकरे की गरदन पर हथियार नही पड़ता।.... एक वह भी युग था जब कि, हमारे पूर्वज मनुष्य की ताजा अंतड़ियों की माला पहना करते थे; एक वह भी युग था कि हमारी वेदियों पर कैदी राजाओं की आँखें निकाल कर चढ़ा दी जाती थीं; एक वह भी युग था कि ताजा कटीं उंगलियों का हार पहनाकर वटवृक्ष का श्रृगार किया जाता था; नरमुण्ड और आदमी का लहू यक्षों, देवों और ब्रह्मों के दबाव में आकर जाने कितनी बार हमारे पुरखों को स्वीकार

करना पड़ा है! मुझे तो खैर, बकरों की बलि से छुटकारा मिल जाता था। हाय! हमारे पूर्वजों को जाने कैसी-कैसी बीभत्स और रोमांचकारी परस्थितियों से गुजरना पड़ा था!''[1] ''मनुष्यों की बलि चढ़ाने वाले यक्ष-गन्धर्व, देव-देवियाँ और ब्रह्म अब बाहर नहीं रह गये- मोटी जिल्दों बाले पुराने पोथों की बारीक पंक्तियों के अन्दर आज वे नजर बन्द हैं। राजाओं, पुरोहितों, सामन्तों, सेठों और तीर्थङ्करों की बातों का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करने वाले बहुत सारे विद्वान सुदूर अतीत की उन क्रूर घटनाओं पर अब भी पर्दा डाले हुए हैं; वह उन लोगों के लिए सत्ययुग है, स्वर्णयुग है! साधारण जनता का स्वर्णयुग तो अभी आगे आने वाला है बेटा![2]

यहाँ तक की 'शादी' के लिए भी बकरों की बलि दी जाती थी, कि जिससे बरहम बाबा खुश होकर उसके लिए योग्य लड़की लाकर खड़ा कर दे- ''जद्दू के लड़के की शादी पचपन वर्ष की आयु तक नहीं हुई। वह अपने बरह्मबाबा को पाँच बार बकरे की बली दे चुका तब भी कोई लड़की वाला उससे पूछने नही आया। अब अपने खानदानी बरहम के बारे में मद्धू की श्रद्धा डिगने लगी। ज्योतिषि, साधु-सन्त, ओझा-गुनी, औघड़-औलिया- जो भी मिलता उससे मद्धू अपनी शादी की बाबत पूछा करता।''[3]

देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी 'ब्रहमपुत्र' में घिनौने कर्मकाण्ड 'बलि पूजा' का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करते हुए उसकी कड़ी आलोचना की है। ब्रहमपुत्र के 'मीरी' लोगों की मान्यता थी कि, यदि ''इन्द्र देवता (दबूर) की दो बार पूजा न की जाये तो वे वर्षा ऋतु मे अम्बर पर अपने घड़े कुछ इस प्रकार एक साथ तोड़ डालें कि सब नदियों में बाढ़ आ जाय। यह भय तो लगा ही रहता था। इन्द्र के क्रोध से ऐसा तूफान आ सकता था कि झोपड़ियों की छतें उड़ जायँ, असंख्य पेड़ उखड़कर गिर जायँ, सड़क पर चलते हुए लोग उड़ कर कहीं दूर जा गिरें और यह भी पता न चले कि उनके शरीर मे कितनी बोटियाँ थीं।

मीरी लोगों मे यह नियम था कि बस्ती का पुजारी दबूर-पूजा का दिन निश्चित करे,.... सबेरे-सबेरे दबूर-पूजा आरम्भ होने से पहले बस्ती

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-६९-७१

२. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-७२

३. वही, पृष्ठ-७३

के प्रवेश द्वार पर कोई चिन्ह् रख दिया जाता था जिससे यह पता चल जाये कि बस्ती के भीतर दबूर-पूजा हो रही है और पूजा शेष होने तक कोई व्यक्ति बस्ती के भीतर प्रवेश करने का साहस न करे। यह भी नियम था कि, यदि बस्ती का कोई व्यक्ति काम से बाहर गया हो तो वह भी पूजा के मध्य में बस्ती के भीतर न आये। यदि कोई पढ़ा-लिखा आदमी मिल जाता, तो बस्ती के बाहर लकड़ी की तख्ती लगाकर उस पर लिखवा दिया जाता था: 'आज हमारे गाँव मे दबूर-पूजा हो रही है। इसलिए प्रात: काल से लेकर गोधूलि तक कोई भी आदमी बस्ती के भीतर प्रवेश न करे।'

....इस विज्ञप्ति की अवहेलना करते हुए कोई व्यक्ति बस्ती में घुसने का साहस करता, तो उसे एक ही दण्ड दिया जाता- उसके हाथ पैर बांधकर उसे 'येयुम' में डाल आते थे। येयुम उस स्थान को कहते थे जहाँ झोपड़ी के मचान के नीचे सुअर बँधे रहते थे। दबूर-पूजा की तिथि से दो-चार दिन पहले ही मीरी पुजारी पूजा के लिए मुर्गे-मुर्गियाँ, जिनकी संख्या सात से किसी अवस्था में भी अधिक नहीं होती थी, और एक सूअरी ठीक करके रखता था। पूजा के पहले बस्ती के लोग बस्ती की परिक्रमा करते थे। परिक्रमा पाँच बार की जाती थी और उसमें मुर्गे, मुर्गियों और सूअरी को भी साथ रखते थे। परिक्रमा में केवल पुरूष ही रहते थे। परिक्रमा के पश्चात् मुर्गे-मुर्गियो और सूअरी की बलि दी जाती; पूजा करने वाले लोग मिलकर मांस पकाते और इन्द्र के नाम पर सहभोज का आनन्द लेते। पूजा के पश्चात् 'लाओ पानी' का नशा किया जाता।.....

'दबूर-पूजा' की एक रीति यह भी थी कि गाँव की लड़कियाँ मिलकर नाचती थीं और अपने दबूर-नृत्य में गाये जाने वाले गीतों में इन्द्र देवता को सम्बोधित करते हुए कहती थीं- 'देवता की कृपा बनी रहे। धरती धानवती हो। स्त्रियाँ पुत्रवती हों। गाँव में सुख शांति रहे। धान-धान से मिले, आदमी आदमी से मिले। कोई किसी से शत्रुता न करे। कोई किसी से ईर्ष्या न करे। दबूर देवता का आशिर्वाद सबको एक समान प्राप्त हो!''[1] 'मखना' सहर्ष माँ को विश्वास दिलाता है कि, वह 'राखाल' काका के घर जा रहा है। उसका मन तो दबूर-पूजा देखने का था किन्तु

---

१. ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ-१७२

वह यह भी सोचता है कि काका के घर न जाऊँ तो वे क्या कहेंगे? कहानियाँ तो कल भी सुनने को मिल जायँगी। अन्ततः वह मीरी बस्ती की ओर बढ़ने लगा किन्तु अन्तर्द्वन्द के साथ। उसने लटकती हुई तख्ती को देखा और उसकी परवाह न करते हुए बढ़ता गया। सामने से आते देख तीन-चार मीरियों ने मखना को बाँधलिया और 'येयुम' में डाल कर चलते बने। वह बहुत चिल्लाया मगर कोई लाभ नहीं। रोता हुआ मखना सूअरों से डरकर आँखे बन्द कर लेता है, एक नन्हा सुअर मखना को चाट रहा था। दुर्गन्धपूर्ण कोने में फूल से भी कोमल मखना रोता-चीखता रहा और डर से भयाक्रान्त था। अब तक असंख्यों चित्र उसके दिमाग में घूम चुके थे, उसे माँ की भी याद आ गई थी कि अंधेरे में एक साँप ने उसे डंस लिया, वह देखते हुए भी कुछ न कर सका। वह छटपटा कर मर गया। सारी मीरी बस्ती के लोग हतप्रभ एवं शोकाकुल थे। राखाल अब भी कुछ न बोला, यद्यपि वह कहना चाहता था- "तुम लोगों को क्या हो गया? क्या एक बालक की मृत्यु से भी तुम्हारे कानों पर जूँ तक नही रेगी? क्या तुम्हारी धार्मिक विचारधारा का यही आशय है कि, एक बालक की मृत्यु पर दो आँसू भी न बहाये जाँय? क्या दिसाँगमुख के लोग उस मृत्यु से कुछ भी शिक्षा नहीं ले सकते?"[1]

राजेन्द्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल' में 'नारायण देव' की पूजा के अवसर पर की जाने वाली बलि की व्यंग्यपूर्ण चर्चा की है- "सिरहा नारायण देव की पूजा में खो गया। दो-चार मन्त्र पढ़ने के बाद उसने देवताओं को धूप दी। सारे लोगों की आँखे सूअर पर अटक गईं। वह जमीन में मुंह लगाये पहले की तरह खड़ा था और सारे चावल उसी तरह बिखरे थे। सिरहा के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं। उसने देवता का नाम लेकर नारियल फोड़ा। उस पर लांदा (शराब) चढ़ाई। मंतर द्वारा वह सूअर की चेतना जगाने लगा। सूअर मंत्र के प्रभाव से झूम उठा। चावल के दानों को समेटने के लिए उसने जैसे ही मुंह खोला, सुलकसाए ने आगे बढ़ कर उसकी पूंछ काट ली। पूंछ कटते ही नारायण देव की आत्मा सूअर पर उतर आई। फिर उसने खूब चावल खाए। सिरहा ने उसकी खूब पूजा की और आरती उतारी। बूढ़ी झमको तब तक बाजू मे गड्ढा बना रही थी। गड्ढा खुद गया तो उसमें गरम पानी भर दिया गया। फगरू,

१. ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ-१८६

सुलकसाए और सिरहा तीनों ने सूअर की पिछली टांगें पकड़कर उसका मुंह गड्ढे में जैसे ही डाला कि वह दर्द-भरी आवाज से चीख उठा: चि चीं चीं चीं चींचीं! औरतों की खुशी का अंत नहीं। उनका नारायणदेव प्रसन्न हो गया था। देव प्रसन्न हो गये, अब बरस-भर गाँव सुखी रहेगा। भूत-प्रेतों की बाधा उन्हें नहीं सताएगी। कहीं कोई बीमार नही पड़ेगा। महुआ सबसे ज्यादा खुश थी। सूअर के खून की धार को देखकर उसके काले बदन में, सेमर के फूल की तरह चमकते होंठ अपने-आप गुनगुना उठे:..... ढोल और नगाड़े बजते रहे। जवान जोड़े अपने रंगीन पैंतरे दिखाते रहे। अधेड़ औरतें अपने बिसरे जमाने की याद में मस्त उनके गीतों का साथ देती रहीं और बूढ़े खीझे हुए तमाशा देखते रहे। सब खुश, सब मगन, सब अपना दु:ख भूल गए। किसी को कोई चिन्ता नहीं, किसी को कोई परवाह नहीं। नारायण देव ने इतनी सरलता से उनकी पूजा स्वीकार कर ली थी!''[१]

आंचलिक उपन्यासों में भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र आदि ढोंग-पाखण्ड एवम् अन्धविश्वासों की भी भरपूर खिल्ली उड़ाई गई है। ग्राम्यांचलों में, विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों में अन्धविश्वास की जड़ें अभी भी काफी मजबूत हैं। यहाँ तक कि जितनी जातियाँ हैं उतने ही उनके भूत-प्रेत हैं। सभी अपने-अपने भूत-प्रेत की पूजा करते हैं- ''वही अन्धविश्वास, भूत-पूजा, अकर्मण्य पूण्य-याचना। चमार-चमारिया पूजता है, ब्राह्मण-बरम पूजता है, क्षत्री-डीह पूजता है, मुसलमान-जिन्न पूजता है। और सच तो यह है कि, सभी एक-दूसरे के भूत को पूजते हैं.....और केवल भूत पूजते हैं।''[२] अन्धविश्वासियों की भूत-प्रेत के प्रति धारणाएँ भी बड़ी अनोखी होती हैं- ''तालेवर गोढ़ी अपने जमाने का बहुत मशहूर 'ओझा-गुणी' था।... भूत-प्रेत, जिन-पिशाच, देव-दानव, किसी की भी हवा लग जाए- तालेवर गोढ़ी के हाथ की एक चुटकी धूल पड़ते ही बाप-बाप करके भूत भागते थे।... खुट्टी-खरैइहा में एक साथ-चार डाइनो को नंगा नचाया था- तालेवर गोढ़ी ने। मरे हुए लड़कों को जिलाने के बाद चारो डाइनोंका गुण खींच कर अपनी चुनौटी में रख लिया था। मशान की हड्डी जिसके घर में गाड़ दे, उसके घर में ऐसा 'बनरभूता' लग जाता था कि,

---

१. जंगल के फूल, पृष्ठ-१५

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२४

एक ही साल में सब हहर कर साफ!''[1] फणीश्वरनाथ 'रेणु' नें 'जयराम सिंह' के माध्यम से पाखण्डों पर व्यंग्य किया है- ''जय राम सिंघ को एक पते की बात याद आयी- अच्छा, मालिक! किसुन बाबू जो बक्साभर 'हाड़-गोड़-मुण्डी-खोपड़ी' ले आये हैं- उनको जगाकर आपका काम माने 'तंत्र' का काम नहीं हो सकता? तुम भी खूब हो जयराम! पूछता हूँ- फेनायल से धोयी हुई हड्डियों से मेरा क्या काम हो सकता है? उस पर कोई 'गुण' काम कर सकता है भला?

जयराम सिंघ ने मन मे सोचा- तब तो इस कीड़ा मारने वाले तेल (फिनाइल) में बहुत गुण है। भूत-प्रेत भी उसकी गन्ध से भागता है?''[2] लेखक ने 'पंण्डित रामचन्द्र चौधरी' के माध्यम से अन्धविश्वास करने वालों पर व्यंग्यात्मक टिप्पड़ी करते हुए उनकी आलोचना की है- ''अरे, इस गोढ़ी के पास 'ढोढ़ा-सांप' का भी मन्त्र नहीं। भेड़ियाधसान उसी को कहते हैं।.... क्या है उसके पास में?- लेकिन, तालेवर गोढ़ी ने आखिर-आखिर में ऐसी हड्डी गाड़ी दरवाजे पर कि चौधरी की सारी संम्पत्ति के साथ 'लछमी' नाचती हुए तालेवर गोढ़ी के घर में आकर बैठ गई। बस, उसी चक्कर के बाद से तालेवर गोढ़ी ने 'तन्त्र-मन्त्र' ऐलान करके छोड़ दिया! अब, इतने समय के बाद फिर नया चक्कर साधना चाहता है। जयराम सिंघ को लोभ हुआ- क्यों न इस बार सायकिल की कीमत के बदले एकाध 'मन्त्र' सीख लिया जाये।... वशीकरण का 'काम' तो इसीबार बूढ़े को करना है। पहले की 'भैरवी' सब तो रूपये और कपड़े के लोभ में पड़कर चक्कर में आती थीं। कोई-कोई सचमुच 'डाइन' का मन्त्र सीखने आती थीं। जैसे आयी थी मोरंग की खजानी- उसने तो सोने और चाँदी की 'गुरू-दच्छिना' दी थी।... जयराम सिंघ को अब पछतावा हो रहा है। उस समय वह सोचता था कि, सिर्फ 'बदमाशी' करने का बहाना है यह सब। यदि इस बार भी जयराम सिंघ चूक गया तो हमेशा पछतावा लगा रहेगा। यह आखिरी चक्कर जिसमें एड़ी तक लोटते हुए केशवाली 'बंगालमुलुक' की भैरवी बैठेगी....!!''[3]

---

१. जुलूस, पृष्ठ-३८
२. वही, पृष्ठ-३८
३. वही, पृष्ठ-३९

रामदरश मिश्र ने 'पानी के प्राचीर' में, मेले में होने वाली मूर्खतापूर्ण गतिविधियों को उजागर करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। अशिक्षित, अन्धविश्वासियों के लिए इस मेले का अत्यधिक महत्व होता है। 'पांडेपुरवा' गाँव में कालीमाई के मंन्दिर के पास हर वर्ष विराट मेला लगता है। पास-पड़ोस के अनेक गाँवों से लोग देवी-दर्शन तथा भूत-प्रेत, टोना-टोटका आदि को उतरवाने के लिए आते हैं-- "मेला शुरू हो गया है। देवी के ड्योढ़ी पर नगाड़ा बज रहा है। सोखा साहब (रामधंन तेली) अभी आँख मूँदे हुए हाथ में लवंग लेकर ध्यानावस्थित है। केले की लाल-लाल साड़ियाँ पहने, लाल-लाल टोपी लगाये, जुलहटी अंगोछे तथा लाल-लाल कुरतों से लिपटे हुए बच्चों को गोंद में लिए कजरौटा लगाये ये ग्राम- देवियाँ झुंड-की-झुंड अपने पाप-ताप शमन के लिए आ रही हैं। ऊँची जातियों के मरद सादी धोती ओर कमीज या कुरते में अनलंकृत भाव से जुट रहे हैं। किन्तु छोटी जाति के लोगों को तो देखिये- आज धराऊँ कुरता निकला है। मैली धोती पर यह साफ-साफ लाल-पीला कुरता कैसा फब रहा है?

जुल्फ से सरसों का तेल टपकने को हो रहा है। लाठी भी आज तेल पीकर अघा गई है। गले में लाल दास्तियाँ बँधी हुई है। ये बिरहा गाते हुए झुंड-के-झुंड मेले में घूम रहे हैं और मौका खोज-खोज कर औरतों को अपने चक्रव्यूह में घेर ले रहे हैं और फिर संघर्ष शुरू कर देते हैं। भक्त लोग देवी को लपसी-सोहारी चढ़ाने के लिए चारो ओर कड़ाही छनछना रहे हैं।..... अचरों पर चमारों के नृत्य हो रहे हैं। देवी की ड्योढ़ी भक्तों से भर गई है। बीस-बाइस औरतें खेल रही हैं। सिर पर का कपड़ा खिसक गया है; भूत-से बाल बिखर गये हैं। चोली के बटन खुल गये हैं। साड़ी अस्त-व्यस्त हो रही है। वहां एकत्र भक्त लोग प्रसाद लूट रहे है। वह देखो, ये औरत जोर-जोर से छाती पीट रही है, बाल नोच रही है और जोर-जोर से हुमक रही है। देवी के पुजारी रामधन तेली आँख खोलकर एक बार सबकी ओर देखते हैं, फिर सांस को अन्दर की ओर खींचकर गलगलाते हुए एक बार जोर से चीखते हैं- 'हत् 'हत् देवी -कहाँ सो गइलू? तोहरे दरसन खातिर एतनी भीड़ लगलि बा।' और फिर से झूमने लगते हैं।..."[1] रामदरश मिश्र ने भूत-प्रेतों के झाड़-फूँक

---

१. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-३८

का यर्थाथ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। 'पानी के प्राचीर' का ओझा- रामधन तैली भी झाड़ने- फूँकने का काम करता है- "रामधन तेली अभुवाते हुए हर एक औरत के सामने खड़े होते हैं- 'बोल-बोल तू कौन है?' 'ओ ओ उ उ उ उ अरे हम जिन्न हईं रे, बरगदवा पर क जिन्न हईं.... आरे आरे.... हम नाहीं छोड़ब...!' रामधन तेली कड़कते हैं, 'बोल शैतान तू छोड़ेगा कि नहीं।' 'छोड़ेगा-छोड़ेगा हमके एक सूअर चाही, आ चार बोतल दारू।'...."[1] लेखक ने इस ढ़ोंग पर व्यंग्यपूर्ण कुठाराघात किया है-"सब लोग आश्चर्य और भय से यह दृश्य देख रहे हैं। लेकिन यहां एक लड़का भी खड़ा है, जिसके मन में यह सारा दृश्य एक अविश्वास और विरक्ति का भाव पैदा कर रहा है। इसका जी हो रहा है कि चिल्लाकर कह दे कि यह सब फरेब है, धोखा है। भक्तों के जमघट में इस नादान छोकरे की बात सुनेगा ही कौन? दूसरे, उसका मन खुद बहुत मजबूत नहीं है इन भूतों, परेतों की ओर से। कौन जाने यह सब सही हेा। मगर नहीं, पुस्तकों में पढ़ा है कि, यह सब ढोंग है, मन की कमजोरी है। इस तरह वह अपने संस्कारों और पुस्तकीय ज्ञान से लड़ता इन सारे अप्रिय प्रसंगों को पीता हुआ खड़ा है।"[1]

लेखक ने 'नीरू' के माध्यम से इस खेल को खेलने वाली औरतों के घरवालों पर अत्यन्त तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। इस कुकृत्य के लिए केवल ओझा, पंडित या पुजारी ही नहीं, समाज भी उत्तरदायी होता है। 'नीरू' सोचता है- "उफ्, कैसी बेशर्म औरतें हैं ये? और घरवाले भी कैसे नपुंसक हैं कि इन्हें अखाड़े में खेलने के लिए छोड़ दिया है।"[2]

नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' जैकिसुन को 'डोमड़ा औघड़ के गुण करतबों के बारे में बतलाते हैं- वह अपने गुण-गौरव के कारण पूरे अंचल में विख्यात था। मद्धू अन्ततः परेशान होकर अपनी पीड़ा लेकर उसी डोमड़ा औघड़ के पास जाता है- ".....मद्धू, डोमड़ा का गुण-गौरव पहले ही सुन चुका था। अब अपने ब्रह्म से उदास होकर वह उसके पास पहुंचा। सारी बातें ध्यान से सुनकर औघड़ बोला- 'तुम्हारा बरह्म भारी पाजी है। बरगद का सहारा उसे जब तक रहेगा तब तक तुम्हारी शादी नहीं होगी। कहो तो चल कर मैं उसे कैद कर लाऊँ।'....

---

१. पानी के प्राचीर, पृष्ठ-३९

२. वही, पृष्ठ-४१

कंकाली माई का नाम लेकर औघड़ ने एक ही सांस में देसी ठर्रे का श्रद्धा चढ़ाया; महाप्रसाद तैयार किया था, जी-भर उसे भी पा लिया। इतमिनान से चरस का दम लगाया। फिर चिमटा और झोली संभालकर मेरे करीब आया.....

'पहले उसने वेदी पर चिमटा फटकारा और जोरों से आवाज मारी. ... 'ओ ऽऽऽऽ ड्. अलऽख निरंजन भग् सा ऽऽऽऽ ले ऽऽऽ!!!' बाद में ध्वजा उखाड़ कर अलग गिरा दी। झोली से खुरपी निकाल कर जहाँ-तहाँ से चबूतरा खोद डाला। आखिर में लोहे की एक कील निकाली औघड़ ने।...'उस कील को औघड़ ने मेरे सीने में जरा-जरा ग्यारह दफे ठोका ठोककर निकाल लेता और देख लेता; ग्यारहवी बार बोला: 'चकरपाइन पाठक! अब तुम इस कील की हिरासत में आ गये बाबू! चलो, अब मेरे साथ...'

'औघड़ वह कील साथ लेता गया। रूपउली से उत्तर मकरमपुर के मजदीक जीबछ की पुरानी धार के किनारे एक बुड्ढा पीपल था, उस कील को बाबाजी ने उसी के सीने में ठोक दिया.....'

'इस तरह मुझे उस ब्रह्म-राक्षस से छुटकारा मिला और अगले ही वर्ष मद्धू पाठक का ब्याह एक लँगड़ी लड़की से हो गया था।''[1]

फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने 'परती:परिकथा' में 'परती' के लोगों द्वारा 'परमदेव' की पूजा-अर्चना तथा उनके प्रति अटूट अन्धविश्वास का स्वाभाविक चित्रांकन किया है और उनकी व्यंग्यपूर्ण आलोचना भी। 'परमदेव' को सवर्ण लोग केवल छोटी जाति वालों का ही देवता मानते हैं। इस मानसिकता पर लेखक ने तीक्ष्ण कटाक्ष किया है- ''गहलौटा, केयट, खवास और गंगोला टोली के लोग परती के परमदेव को पूजते हैं। साल में एक बार पूजा दी जाती है। घर-घर से लोग पान-सुपारी, कबूतर और बत्तक लेकर पहुँचते हैं।.... सवर्ण टोले के लोग इस देव को नहीं मानते। वे कहते हैं-'परमा तो छोटी जाति वालों का देवता है!' लेकिन, ठाकुरबाड़ी के पण्डित सरबंजीत चौबे जी कहते हैं- 'देव तो आखिर देव ही है। चाहे वह बड़ी जाति का हो या छोटी जाति का। परमादेव हमारे

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-७४

पुरखों के देव हैं। परती के जाग्रत देवता हैं; आपद-विपद में सारे गाँव की रक्षा करते हैं।.... उनके गहवर को टैक्टर से जोत रहा है जित्तन! परमादेव को मानने वाले यदि चुपचाप परती उधेड़ना देखते रहेंगे तो सारे गाँव पर गुस्सा उतारेंगे परमादेव। सब मिलकर सोचो, विचारो और इसके लिए उपाय करो।'.... अपने देवता-पित्तर को हम भूल गये हैं। कहावत है न, पहले भीतर, तब देवता-पित्तर....।''[१] परती के लोगों में अन्धविश्वास की जड़ें कितनी मजबूत हैं, यह निम्न उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है.... ''निरसू भगता ने फूल उठाने का न्योता कबूल किया। गाँव के भगतिया लोगों ने गोचर परमादेव को गुहारा। आध पहर रात से गुहारते रहे, लेकिन एक बार का भड़का हुआ देव बहुत मुश्किल से असवारी पर आता है। एक ही घण्टे में तीन जोड़ी कबूतर की बलि दी गई और भगतिया लोगों ने गोचर छोड़कर ओरहना गाना शुरू किया। जब गोचर से देव नहीं सुनते, तब ओरहना गाते हैं भगतिया लोग....''[२]

''.....गर्भ वालियों को हटा दो धरमू की बहू! बडा रिसियाये हैं बाबा। हाँ! मैंने अपनी जवानी में देखी है इनकी रीस।''[३] ''मनोकामना अपने मन में रखकर पूजा-प्रसाद की डाली चढ़ा दो। फिर आँचल फैलाकर ऊपर की ओर देखो। परमादेव पूजा की डाली अपने माथे पर रखकर माथा हिलायेंगे। आँचल में सिर्फ अच्छत गिरे तो समझो कपाल खराब है। यदि फूल या फल गिरे तो मनोकामना पूरी समझो।.... बारह-बारह साल की कागबाझों को बच्चा दिया है परमादेव ने! अब तो लोगों को किसी बात पर परतीत नहीं। बैजू की बहू को याद है, आँचल में केला और अमरूद गिरा। दूसरे दिन सुबह से ही उसको मिचली आने लगी, उलटी होने लगी। गले हुए कोढ़ी करिया सामू को परमादेव के बाक ने आराम किया।''[४] ''.....परमादेव को भगतिया लोग दिशा-मैदान कराने के लिए ले गये हैं। औरतें रो रही हैं। बड़ी करूणा-भरी रोदना कर रही है दुलारीदाय!... 'मिसर खानदान में जब से यह पगलवा हुआ है, तभी से सब धरम-करम चला गया हवेली का। रोयेगी नहीं? हाय-हाय? कुकर्म से

---

१. परती: परिकथा, पृष्ठ-७७
२. वही, पृष्ठ-७८
३. वही, पृष्ठ-७९
४. वही, पृष्ठ-८१

कुकर्म करने पर तुल गये हैं जित्तन बाबू। परमादेव का गहवर जोत रहे हैं। चक्कर परती ही तो परमादेव की आसनी है। उसी को टकटर लेकर'....।''[1]

राजेन्द्र अवस्थी ने भी 'जंगल के फूल' में जंगली लोगों की मान्यताओं का व्यंग्यपूर्ण सुन्दर चित्र खींचा है। गाँवो में भूत-प्रेतों अथवा चुड़ैलों की पूजा होती है। ग्रामीणजनों का विश्वास है कि, यदि ये न होते तो, उनका अर्थात् सम्पूर्ण गाँवों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया होता। 'महुआ' सिरदार को समझाती हुई कहती है- ''अरे, धन्य मानों रे अपने पुरखों को। दुनिया कहती है- हम जंगली गंवार हैं। हमारे गाँव की हर गैल में देवता रहता है। हर झाड़ में भूत बसता है। नदी के किनारे प्रेत रहता है और हर खण्डहर में चुड़ैल। कित्ता सच कहते हैं वे! बोलो रे, यह सब न कहा जाता तो न जाने कब के हम और हमारे गाँव धूल में मिल गये होते।''[2] गोरे अफसर के पूछने पर कि, यह 'नारायण देव' कौन है? गायता उत्तर देता है- ''सिरकार, ये बीमारियों का राजा है। सारी बीमारियाँ इसी के कहने पर चलती हैं। सारे भूत-प्रेतों का यह मालिक है। चुड़ैल उसके इशारे पर नाचती है।.... (वहाँ पत्थरों की एक ऊँची कोरी थी और उस पर कई छोटे-छोटे झंडे लगे थे).... 'वह रहा हमारा नारायण देव।'....''[3] यहाँ के लोगों की मान्यताएँ भी बड़ी विचित्र हैं। इनके अन्धविश्वास को कोई डिगा नहीं सकता। लेखक ने यहाँ के लोगों की अन्धविश्वासी मनोवृत्ति पर गहरा व्यंग्य किया है- ''....जो बाँझ होती हैं, अपने करम को कोसती हैं। कंकाली की पूजा करती हैं। देवी-देवता मनाती हैं। जब देव-प्रसन्न नहीं होते तो भूत-प्रेतों का सहारा लिया जाता है। आधी रात को वह बिल्कुल नंगी पीपल के नीचे जाती है। और वहाँ दीप जलाकर प्रेत को बुलाती है, और कहते हैं, वहाँ से लौट कर कभी कोई स्त्री बाँझ नहीं रह पाई। देवता जहां हाथ टेक दे, वहां भूत सहारा देता है। सत्ताय को इस मुसीबत से कभी नहीं गुजरना पड़ा। जब वह हिरमे के यहां नहीं थी तब भी उसने उस घर को आबाद रखा था। यहाँ आते ही उसने सूने घर को चमन बना दिया। जहां घर की छत के नीचे

---

१. परती: परिकथा, पृष्ठ-८२

२. जंगल के फूल, पृष्ठ-३६

३. वही, पृष्ठ-१८

केवल चिड़ियां चहकती थी, आदमी के बच्चे चहचहाने लगे। पर धीरे-धीरे यह चहचहाट ऐसी बढ़ी कि, हिरमे चीख उठा। सत्ताय उसे हँसकर और मुसकरा कर समझाती थी, कहती- 'बच्चे तो परमेसर की देन है। वे बड़े देव के औतार हैं। जहाँ जाते हैं, भाग पलट देते हैं।.... 'भाग पलटने' का रास्ता हिरमे की भीतरी गलियों में खो जाता। वह भी क्या करे; आदमी के किये क्या होता है। यह तो भगवान का काम है और जो काम भगवान का हो, वहाँ आदमी का क्या जोर! वह बच्चों का गला ही तो घोंट सकता है, पर उसका मतलब है भगवान का गला घोंटना। देवता का प्रसाद जो मिल जाए, माथे में लगाकर चुपचाप गले में डाल लेना चाहिए।''[1]

'चिट्ठीरसैन' में 'शैलेश मटियानी' ने 'थोकदार' के साथ हो रही अनहोनी को चर्चा करते हुए लोगों की चित्तवृति का रेखांकन किया है जिसमें व्यंग्य के तेवर निहित प्रतीत होते हैं- ''साबुली थोकदार की तीसरी से थी। सो उसे थोकदार और ज्यादा प्यार करते थे। यों भी तीनों पत्नियाँ कन्या राशि की मिली थीं। पहली ने लगातार चार लड़कियों को जनम दिया और फिर कोख को एकदम बंजर बना लिया, तो थोकदार ने दूसरी शादी की, कि इस डाल तो अब फल लगने से रहे। पर दूसरी शादी को भी थोकदार के पितरों से पूर्व-जन्म का बैर रहा। पहली बार लड़की ही दी और उस पहली के साथ ही फली भी दे दी। साल भर परसूत (प्रसूति) की बीमारी से बिस्तर पर रहकर, बड़ी मुश्किल 'जान बची, भगवान् दाहिने हुए' करके उठी भी तो अब क्या होना था?
'जड़ ही नहीं रह गई, तो दूब क्या हरी हो'?

थोकदार ने तीसरी शादी की। चालीस की उमर में। वह साबुली की मां बनी चली गई। अब जाके थोकदार को कुछ चेत पड़ा, कि कहीं 'देवलगी' तो नहीं? कहीं किसी का रोष-तोष तो नहीं? किसी की घात तो नहीं? किसी का टोना-टोटका तो नहीं?

जितने गणतुओं (ज्योतिषिओं) के नाम चले हुए थे, सबको बुलाया। किसी ने पितरों का रोष-तोष बताया, किसी ने कुल-देवता गोल्ल और गंगनाथ का दखल बताया और किसी ने पड़ौस के दुश्मन हरसींग सुप्याल

---

१. जंगल के फूल, पृष्ठ-१३७

के लगाये हुए वीर-वैताल बताए।"[1] ज्योतिषियों से राय मशविहरा के परिणामस्वरूप थोकदार पुनर्विवाह कर लेता है किन्तु इस बार उसे सबसे बड़ा झटका लगता है; फिर भी उसकी अन्धश्रद्धा कम नहीं होती- "थोकदार ने सबकी कही पूरी की। फिर चौथी बार छाती पर पत्थर धर के लोगों की राय से एक और घर बिठाई। पर, वह चार महीने खूब बासमती का भात उड़ाकर, बगल में ही, हरसींग के घर बैठ गई।

हरसींग का तो कहना था कि, 'सिर्फ बासमती के भात से ही औरत थमती नहीं। थोकदार के घर सरू बासमती अघा गई, मेरे घर रूखी-सूखी मडुए की रोटी पर ही पड़ी हुई है। तन-मन का भी कोई तकाजा होता है। मेरे घर ऐसे ही नहीं आई थोकदार के घर की बासमती छोड़कर, पहले ही देख लिया कि हरसींग अपनी घरवाली से हर साल एक-एक बेटा पैदा करता है।'

.....और थोकदार की मान्यता यह थी, हरसींग ने सरू को जादू खिलाया था। सरू के रास्ते में बाईस गाँठों वाली दूब रखते, हरसींग को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था।

और तब थोकदार ने ऊडलगों के उत्तर-दक्षिण में गंगनाथ और गोल्ल देवताओं के दो नये मन्दिर बनवाए। दोनों देवताओं को बाईस दिनों का अखण्ड देव जागरण दिया। मंदिरों में घंटे बकरे चढ़ाये। किसी ने न सुनी थी, गोल्ल-गंगनाथ ने सुनी। हरसींग लकड़ी काटते में पेड़ से गिरकर मर गया और सरू फिर थोकदार के पास लौट आई, कि कान पकड़ के सिर आंचल धरती से लगाती हूँ। उस पापी ने जाने क्या जादू-टोना किया था, कि मैं अपना सत् सँभाल नहीं सकी। उसने मेरे पीछे बबाललटी चुड़ैल लगा दी थी। मेरे प्राण आपके चरण छूने को छटपटाते, पर चुड़ैल मेरी चूल पकड़कर, उस पापी के पास घसीट ले जाती।

थोकदार तो पहले से ही जानते थे, सो उन्होंने अपना दरवाजा सरू के लिए खुला रखा। आठवें महीने सरू ने पितरों को पिंड दिया। बेटे को जन्म दिया। यों थोकदार की वंश-वेलि सूखते-सूखते बची।.... थोकदार को विश्वास हो गया, कि यह सब गोल्ल-गंगनाथ देवताओं की ही कृपा से हुआ है। सब माया उन्हीं की है।"[2]

---

१. चिट्ठीरसैन, पृष्ठ-१५

२. वही, पृष्ठ-१५

'शैलेश मटियानी' ने 'हौलदार' में भी 'धौलछीना' गाँव के लोगों के भूत-प्रेतों में अखण्ड विश्वास को उद्‌घाटित किया है- "धौलछीना गाँव तीन बाखलियों का था। सबसे ऊपरी वाली बाखली में जो घर थे, उनमें से एक किसन सिंह नेगी का था और एक उनके भाई हरक सिंह का जिसके शरीर में सैम देवता का अवतार होता था। तीसरा घर उस बाखली में केसर सिंह जड़ौत जगरिया का था, जो गोल्ल- गंगनाथ और भाना लोक-देवताओं का अवतार कराने का गुरू-विद्या जानता था। केसर सिंह की घरवाली गोपुली के शरीर में गोल्ल, गंगनाथ और भाना- तीनों एक साथ अवतार लेते थे। इसके अलावा गोपुली का सौतिया बेटा उधम सिंह था, उसके शरीर में नारसिंग (नृसिंह) देवता अवतार लेते थे- यों यह बाखली डँगरियों की बाखली कहलाती थी।"[1]

'हौलदार' की गोपुली काकी कहती है- "मगर, चाहे तुम कुछ भी कहो हो, किसनू ज्याठज्यू- तुम्हारे घर-परिवार पर गोल्ल-गंगनाथ और सैम देवताओं की घोर कोप-दिरिष्टि पड़ी हुई है, और इस घर में आज जरूर कोई-न-कोई अनिष्ट होने वाला है।....."[2]

गोपुली काकी अब के गम्भीर-स्वर में बोली "किसनू ज्याठज्यू हो, इधर तुम्हारे घर पर देवों की ऐंठाऐंठी ही चल रही है। गोल्ल-गंगनाथ दोनों टेढ़ी चाल चल रहे हैं। तुम आजकल देवताओं की ठीक से जता नहीं रहे हो?"[3]

'मालुली' भी परेशानियों से तंग आकर कहती है- हाइ, बड़ा दुखी भाग निकला छोरी का! एक तो देव-पकड़ हो रही है। गोल्ल देवता को चढ़ाए जा रहे बोकिए ने, गोल्ल की ही डँगरिया, गोपुली दीदी की आँख में सींग मार दिया है.....। ....दूसरे नरूली के प्राण छूट रहे हैं, बच्चेदानी में बच्चा अड़ा हुआ है- मगर दुरगुली पंडित्याण उनकी तरफ को भेल फरका के लेटी हुई है अपने घर में।.... सब गरदिश के फेर हैं।"[4]

'कब तक पुकारूँ' का 'सुखराम' भी भूत-प्रेत आदि में विश्वास करता है। वह चन्दन के साथ मिलकर अपने दुश्मन 'दरोगा' से बदला

---

१. हौलदार, पृष्ठ-५१
२. वही, पृष्ठ-३५२
३. वही, पृष्ठ-३५०
४. वही, पृष्ठ-३५८

लेने की सोचता है किन्तु वह डरता भी है। चन्दन पूजा की तैयारी करता है। वह पूछता हैं- "....'कौन है तेरा दुश्मन?'

'दरोगा है।'

'हाँड़ी छोड़ता हूँ', चंदन ने कहा: 'उसके बीवी-बच्चे हैं?'... उनका दुख पाप बनकर तुझ पर चढ़ेगा। तू तैयार है?'.... 'हाँड़ी लौटेगी तो मुर्गा कार दूँगा।'..... 'वरना वह छोड़ने वाले पर आकर फटेगी और वह मर जाएगा।'... तभी मैंने कहा था, बहेलिन ले आता तो उसे पागल करवा देता, न पाप लगता, न डर रहता।"[1]

प्राचीन भारतीय समाज में 'गोदना' गुदाने का अत्यधिक महत्व समझा जाता था। गोदना के पीछे लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ अथवा मान्यताएँ होती थीं। गोदना-प्रथा भी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक विसंगति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई थी और आज भी अनेक ग्राम्याँचलों तथा आदिवासी क्षेत्रों में यह प्रथा अपनी पहचान बनाये रखी है। उपन्यासकारों ने इस आंचलिक सांस्कृतिक रूढ़ि को अपनी रचनाओं में व्यंग्य के स्वर में उभारने का भरसक प्रयत्न किया है।

'हिरना साँवरी' की 'हिरना' पनवाड़ियों की बहु-बेटियों के बाहों पर गुदे हुए गोदने की चर्चा करती है- "एक ओर कतार लगाकर पनवाड़ी बैठे थे। लोग उनसे पान खरीद कर मुंह लाल कर रहे थे। पनवाड़ियों के साथ उनकी बहु-बेटियाँ भी थीं, जो बंगला, कपूरी और मीठे पान पर कत्था-चूना लगाती जा रही थीं। उनमें से शायद ही किसी ने पोलका पहना था। कच्ची लौकी जैसी उनकी साँवली बाहें अपने पूरे गदराव के साथ उघड़ी हुई थी। उन बाहों पर गोदने गुदे हुए थे। गोदने के नीले रंग से, जिसे दुनिया का कोई साबुन नहीं छुड़ा सकता, उन बाहों पर चिड़िया, मोर, घर, चाँद-तारे आदि बने हुए थे। दाई ने मुझे बताया था कि मरने के बाद सब चीजें तो यहीं धरी रह जाती हैं, लेकिन गोदने सुरग (स्वर्ग) तक आत्मा का साथ देते हैं। जिसके पास जितने ज्यादा गोदने होते हैं, उसे उतना ही धरमात्मा समझा जाता है।"[2]

'जंगल के फूल' में राजेन्द्र अवस्थी ने भी 'गोदना' से जुड़ी मान्यताओं

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३०७

२. हिरना सांवरी, पृष्ठ-३३

एवम् अन्धविश्वासों का चित्रण किया है। एक लड़की गोदना गुदवा रही है और महुआ उसे गंभीरता से देख रही है- "महुआ एक कट्टुल पर बैठी देख रही थी। दूसरे चेलिक और मोटियारी चारो तरफ घेरे खड़े थे। ओझा पीतल की एक लम्बी सूई दिया में रखे काले पदार्थ में डुबोती और लड़की की जाँघ में घुसेड़ देती। वह जोर से चिल्ला उठती, ऊ इ इ इ मां ऽऽऽ।'

उसकी मां उसके सिर पर हाथ रखकर कहती -'मत रो बेटी, ये गुदने तेरी सुन्दरता में चार चाँद लगा देंगे। तुझे अच्छे-से-अच्छा प्रीतम मिलेगा। दुनिया-भर के चेलिक तुझे प्यार करेंगे, पर तू उनमें से सम्हल कर चुनाव करना। और मरने के बाद यहीं गुदने तुझे नरक की यातना से बचाएँगें। तब देवता तेरी छाती में भाला नहीं घुसेड़ेगा।....

.....'अरी पैकी, अब तो तू फूल सुन्दरी बन रही है।

'हाँ, उई माँ माँ ऽऽऽ'- इस दर्द और भावी सुख की कल्पना का जो एक मिश्रित अनुभव उसे हो रहा है, वही उसके चेहरे पर साफ दिखायी देता हैं। शरीर गुदाना जरूरी है। जिसकी देह में जितने ज्यादा गुदने होंगे, वह उतनी ही सुन्दर होगी। बचपन से गुदने गुदाने का क्रम चलता रहता है। और फिर उसका अन्त नहीं है, चलता ही जाता है।

-'ओझा री, मेरी छाती में मछरी बना दे न।'

-'नहीं बेटी, वहाँ शहद की मख्खी का छत्ता बनवा।'

-'नहीं' माँ, छत्ता नहीं बनवाऊँगी, मछली बनवाऊँगी, वह मछरी जो नदी के पानी से अनोखा प्यार करती है। वह मुझे बेहद पसंद है।'

-'अच्छा वहीं सही।'

और ओझा स्त्री उसकी जांघ छोड़कर छाती पर मछरी बनाने लगती है। महुआ उसे देखती है तो उसे फिर सुलक की याद आ जाती है। सात साल पहले 'टिम टिम टिमक टिम' वह टिमकी बजा रहा था और महुआ भी इसी तरह गुदने रही थी। उसकी माँ ने भी कहा था- 'बेटी' मछरी मत बनवा, बड़ी तकलीफ होगी।' वह खूब हंसी थी- हाँ माँ, जिस दुख के पीछे सुख की चादर पड़ी हो वह दुःख नहीं है, एक परीच्छा है। मेरी भी परीच्छा ले रही है यह ओझा।"[१]

---

१. जंगल के फूल, पृष्ठ-१६५

इस प्रकार आँचलिक उपन्यासों में प्राचीन धर्म एवं संस्कृति के आधुनिक विकृत रूप पर व्यंग्य किया गया है।'काका' की बिंदिया 'कान्ता' से कहती है- "आज कल किसमें है धरम? किसी में नहीं। सब दिखावा है, दिखावा। पैसा हो तो सब हाँ में हाँ, नहीं तो कुछ नहीं।"[१] "जब ईमानदार को हल्ला मचाने की जरूरत पड़ने लगे तो जान लेना चाहिए कि धरम चौराहे पर टँग गया! यही है नया जमाना!

दो-तीन महीना बीतते-बीतते उपंधिया जी ने चौकी उठवा कर बाहर लगवा ली। पूजा-पाठ गया भाड़ में। घर देखें कि परलोक देखें।"[२] 'काका' की 'कान्ता', रामधुन' के आलिंगन में आकर स्वयं को बहुत सुखी महसूस करती है। वह धर्म को दूषित और विकृत करने वाले उत्तरदायी लोगों पर कीचड़ उछालती हुई कहती है- "भले ही यह पाप हो पर यही अच्छा है। मेरे वेश्या बनने या चेली बनने से यह पवित्र है। स्त्री हूँ तो स्त्री जैसा जीवन क्यों न बिताऊँ? अगर धर्म इसे नहीं मानता, तो धर्म गलत है। इन लोगों ने धर्म को भी अपने नफे-नुकशान की चीज बना लिया है।"[३]

धर्म अथवा संस्कृति का जो रूप आज हमें गोचर है, वह तो प्रायः पूर्णतः दूषित एवम् अपवित्र-सा हो चुका है। उपन्यासकारों ने धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन की विडम्बनाओं तथा विकृतियों का उद्घाटन करने के सन्दर्भ में कई विद्रूपताओं का निर्भीकता पूर्वक उद्घाटन किया है तथा उन्हें अपने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में अभिव्यक्ति देकर समाज के सामने प्रस्तुत किया है। आँचलिक उपन्यासकारों ने-धार्मिक साधनों अथवा मान्यताओं की आड़ में प्रचलित बुरे आचरणों, अन्ध-विश्वासों तथा अन्ध-आस्थाओं आदि विद्रूपताओं का प्रबल एवं निर्भीक रूप से खण्डन किया है। उन्होंने व्यंग्य का माध्यम ग्रहण कर अपनी प्रतिक्रियाओं एवम् आलोचनाओं को स्पष्ट रूप से अपनी रचनाओं में उद्घाटित किया है। धर्म एवम् संस्कृति के मोह-भंग, साम्प्रदायिकता तथा जातिवादी भावना का विष-वमन, धर्म की आड़ में घोर अनैतिक आचरण आदि व्यंग्य के प्रमुख लक्ष्य बने हैं। व्यंग्य की

---

१. काका, पृष्ठ-१२४

२. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-३०७

३. काका, पृष्ठ-१६४

प्रतिष्ठा स्वच्छ चरित्र एवम् आचार-शुद्धि की प्रबलता से है। व्यंग्य परम्परागत एवम् रूढ़िगत प्रवृत्तियों को चुनौती देता है। धार्मिक मान्यताओं का वर्तमान युग में अत्यधिक अवमूल्यन हुआ है। धर्म, अब अकर्मण्यता की आधारशिला का रूप ले चुका है, जिस पर आश्रित व्यक्ति भाग्यवादी अथवा नियतिवादी होता जा रहा है। आंचलिक उपन्यासों में मनुष्य की इन्हीं मनोवृत्तियों पर व्यंग्य किया गया है।